PIṆḌĪKRAMA AND PAÑCAKRAMA
of
Ācārya Nāgārjuna

Edited by
Prof. Ram Shankar Tripathi

CENTRAL INSTITUTE OF HIGHER TIBETAN STUDIES
SARNATH, VARANASI

B.E. 2545 C.E. 2001

BIBLIOTHECA INDO-TIBETICA SERIES - XXV

First Editio: 550 copies, 2001

Price: Hardback: Rs. 110.00
Paperback: Rs. 80.00

Publisher:
Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221007, India.

Printed at Shivam Printers, Maldahiya, Varanasi.

भोट-भारतीय-ग्रन्थमाला - २५

आचार्यनागार्जुन-प्रणीतः

पिण्डीक्रमः पञ्चक्रमश्च

सम्पादकः

प्रो० रामशङ्कर त्रिपाठी

केन्द्रीय-उच्च-तिब्बती-शिक्षासंस्थानम्, सारनाथः, वाराणसी

बुद्धाब्दः २५४५ खैस्ताब्दः २००१

भोट-भारतीय-ग्रन्थम

प्रथम संस्करण : ५५० प्रतियाँ, २००१

मूल्य : सजिल्द : ११०·००
अजिल्द : ८०·००

प्रकाशक :
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी-२२१००७

मुद्रक : शिवम् प्रिन्टर्स, मलदहिया, वाराणसी ।

प्रकाशकीय

'पिण्डीक्रम एवं पञ्चक्रम' नामक इस लघुकाय, किन्तु प्रामाणिक तन्त्र-ग्रन्थ को विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए असाधारण हर्ष का अनुभव हो रहा है । इसके रचयिता आचार्य नागार्जुन हैं । ज्ञात है कि बौद्धतन्त्रों का विभाजन पितृतन्त्र, मातृतन्त्र एवं अद्वयतन्त्र में भी किया जाता है । गुह्यसमाज पितृतन्त्र, हेवज्र, चक्रसंवर आदि मातृतन्त्र एवं कालचक्र अद्वयतन्त्र के उदाहरण हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ गुह्यसमाज तन्त्र की संक्षिप्त, किन्तु प्रामाणिक टीका है । इस पर भारतीय एवं भोट आचार्यों की अनेक टीकाएँ हैं ।

क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र एवं अनुत्तर योगतन्त्र भी तन्त्रों के विभाजन का एक प्रकार हैं । उनमें से प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्बन्ध अनुत्तर योगतन्त्र से है । अनुत्तरतन्त्र में उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम ये दो क्रम होते हैं । इनमें परस्पर हेतु-फलभाव होता है । पहले उत्पत्तिक्रम में पारंगत होने पर ही साधक निष्पन्नक्रम की साधना का अधिकारी होता है । इन दोनों से साधना परिपूर्ण होती है और साधक एक ही जन्म में (वर्तमान जन्म में) बुद्धत्व प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है । बुद्धत्व प्राप्त करना ही बौद्धतन्त्रों का चरम उद्देश्य है ।

उत्पत्तिक्रम के लिए आचार्य नागार्जुन ने पिण्डीक्रम का तथा निष्पन्नक्रम के लिए पञ्चक्रम का प्रणयन किया है । निष्पन्नक्रम के क्रमों के बारे में विभिन्न ग्रन्थों में चार, पाँच या छह क्रमों की चर्चा उपलब्ध होती है, किन्तु इस संख्या-भेद की वजह से साधना या अधिगम में कोई फर्क नहीं पड़ता, केवल एक का दूसरे में अन्तर्भाव कर देने से यह भेद होता है । आचार्य नागार्जुन ने प्रस्तुत ग्रन्थ में निष्पन्नक्रम को पाँच क्रमों में क्रमबद्ध किया है ।

परम पूज्य परमपावन दलाई लामा जी ने अगस्त १९८९ में काशी के कुछ वज्रबन्धुओं को कृपा कर गुह्यसमाज का अभिषेक देकर पञ्चक्रम का उपदेश दिया था । उस समय यद्यपि पञ्चक्रम का एक प्राचीन संस्करण संस्कृत में उपलब्ध था, किन्तु वह अपर्याप्त प्रतीत हुआ । फलतः अन्य अनेक पाण्डुलिपियों एवं भोट-अनुवादों से मिलान कर एक प्रामाणिक संस्करण के सम्पादन का निश्चय किया गया। फलस्वरूप यह कार्य सम्पन्न हो सका है। संस्कृत मूल के साथ इसके

भोट-पाठ का भी आगे सम्पादन करके प्रकाशन किया जाएगा । यद्यपि अनेक व्यस्तताओं के कारण इस कार्य में विलम्ब अधिक हो गया है, फिर भी यह एक अच्छा कार्य सम्पन्न हुआ है, इसका हमें सन्तोष है ।

तन्त्र के प्रति इधर विद्वानों में रुचि जागरित हुई है । जिज्ञासुओं को इसके प्रकाशन से बौद्धतन्त्र के बारे में निश्चित ही ज्ञानलाभ मिलेगा, ऐसी आशा है । इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए सम्पादक-मण्डल के सदस्य एवं प्रकाशन-अनुभाग के सदस्य साधुवाद के पात्र हैं ।

भवतु सर्वमङ्गलम्

सारनाथ
७ जुलाई २००१

प्रो० गेशे ङवङ् समतेन
निदेशक

पुरोवाक्

भारत सदा से अध्यात्म-प्रधान देश रहा है । तन्त्रविद्या आध्यात्मिक साधना का चरमोत्कर्ष है । बुद्धत्व की प्राप्ति इसका उद्देश्य है । व्यक्तित्व की परिपूर्णता या व्यक्तित्व के विकास की पराकाष्ठा बुद्धत्व है । सभी विशुद्ध एवं अनास्रव सद्गुणों का एकत्र समवस्थान इसका अर्थ है । यह प्रज्ञा और करुणा (उपाय) की सामरस्य अवस्था है । इससे बढ़कर व्यक्तित्व की कोई दूसरी अवस्था नहीं है । यह अनुत्तर परम पद है । सभी प्राणियों को सभी दुःखों से सर्वथा मुक्त करने के लिए या उन्हें बुद्धत्व पद प्राप्त कराने के लिए परार्थ बुद्धत्व की प्राप्ति की जाती है । बुद्धत्व साधन है तथा सत्त्वों की दुःखमुक्ति साध्य है । बुद्धत्व की प्राप्ति ही महायान धर्म और साधना का अन्तिम लक्ष्य है ।

महायान साधना के अवान्तर दो नय हैं— (१) पारमितानय एवं (२) मन्त्रनय । बुद्धत्व-प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले साधक में सर्वप्रथम बोधिचित्तोत्पाद आवश्यक है । सम्पूर्ण प्राणियों के हित और सुख के लिए बुद्धत्व-प्राप्ति की उत्कट एवं अकृत्रिम अभिलाषा 'बोधिचित्त' है । बोधिचित्त के उत्पाद के साथ ही व्यक्ति 'बोधिसत्त्व' कहलाने लगता है और उसका महायान में प्रवेश हो जाता है । तदनन्तर साधक छह या दस पारमिताओं की साधना में संलग्न हो जाता है । इसके फलस्वरूप उसमें ज्ञानसम्भार एवं पुण्यसम्भार का सञ्चय होता है । इस सम्भारद्वय के सञ्चय की वजह से साधक में क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का आत्यन्तिक प्रहाण करने में समर्थ शून्यता-साक्षात्कारिणी लोकोत्तर प्रज्ञा का उदय होता है । फलतः सम्भार आदि पाँच महायान मार्गों एवं प्रमुदिता आदि दस भूमियों में क्रमशः अधिरोहण करता हुआ साधक व्यक्ति अन्त में बुद्धत्व का लाभ करता है ।

करुणामूलक बोधिचित्त के उत्पाद एवं पारमिताओं की साधना में दोनों (पारमिता और मन्त्र) नयों में कोई अन्तर नहीं है । दर्शन में भी दोनों नयों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि शून्यता ही दोनों नयों का दर्शन है । साधना की परिपूर्णता से प्राप्त होने वाले बुद्धत्वरूपी फल में भी दोनों नयों में कोई अन्तर नहीं है । फिर भी पारमितानय से मन्त्रनय की विशेषता है ।

बुद्धत्व प्राप्त करने तक की साधना में जहाँ पारमितायानी साधक को तीन असंख्येय कल्प या अपरिमित काल लग जाता है, वहीं मन्त्रयानी साधक अपनी

तीक्ष्णेन्द्रियता, उपायकुशलता, उपायबहुलता एवं उपायविशेषता के बल पर एक ही जन्म में बुद्धत्व प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है । एक (वर्तमान) जन्म में ही बुद्धत्व की प्राप्ति, वज्रदेह की सिद्धि, विधि-निषेध का परिवर्जन, मन्त्र, वायु, नाडी, बिन्दु एवं चक्रों की साधना, राग-द्वेष आदि क्लेशों को बुद्धत्व-प्राप्ति का मार्ग बनाना तथा फलावस्था का उपाय के रूप में उपयोग करना आदि तन्त्र की अपनी अन्य विशेषताएं हैं ।

क्लेशों के मार्गीकरण की क्षमता में भेद के कारण मन्त्रों के चार भेद होते हैं, यथा— क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र एवं अनुत्तर योगतन्त्र । अनुत्तर योगतन्त्र बुद्धत्व-प्राप्ति का प्रमुख साधन है । अन्य तन्त्र उसके सोपान की भाँति हैं । अनुत्तर तन्त्र के भी दो भेद हैं, यथा पितृतन्त्र एवं मातृतन्त्र । तन्त्र की जिस साधना-पद्धति में बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए मायाकाय को सिद्ध करने की साधना प्रमुखरूप से होती है, वह 'पितृतन्त्र' तथा जिसमें प्रभास्वरता की प्रमुखता होती है, वह 'मातृतन्त्र' कहलाता है । गुह्यसमाज पितृतन्त्र है तथा हेवज्र, चक्रसंवर आदि मातृतन्त्र कहलाते हैं । अनुत्तर तन्त्र में दो क्रमों की साधना की जाती है, यथा— उत्पत्तिक्रम एवं निष्पन्नक्रम । निष्पन्नक्रम की साधना में ४, ५, या ६ क्रमों की चर्चा तन्त्रशास्त्रों में उपलब्ध होती है । किन्तु यह सब नाम-मात्र का अन्तर है, साधना में कोई खास फर्क नहीं होता । इन सब की चर्चा भूमिका में कुछ विस्तार से की गई है । अत: विशेष जानकारी के लिए वहीं अवलोकन करना चाहिए ।

श्रीपर्वत पर धान्यकटक में भगवान् बुद्ध ने तन्त्र-विषयक धर्मचक्र का प्रवर्तन किया । तन्त्रों की बुद्धवचनता के बारे में आधुनिक इतिहासज्ञ परस्पर-विरोधी विभिन्न मत प्रकट करते हैं और उनके बुद्धवचन होने में सन्देह और विप्रतिपत्ति व्यक्त करते हैं । बौद्धतन्त्रों की अविच्छिन्न प्राचीन परम्परा में विश्वप्रसिद्ध दार्शनिक, साधक, दोषज्ञ, समीक्षक, मनीषी उत्पन्न हुए हैं, जिनकी सत्यनिष्ठा, तटस्थ प्रत्यवेक्षा, उदारचरित्रता, बुद्धिवैभव एवं प्रखर प्रतिभा में आधुनिक विद्वानों को भी विप्रतिपत्ति नहीं है । परम्परा के उन महनीय मनीषियों में कभी भी उस प्रकार के सन्देह उत्पन्न नहीं हुए, जैसे आधुनिक विद्वानों के मन में पैदा हो रहे हैं । ऐसी स्थिति में परम्परागत मान्यताओं से असहमत होने का हमें कोई पर्याप्त कारण प्रतीत नहीं हो रहा है । फलत: तन्त्रों की बुद्धवचनता और उनकी प्रामाणिकता के बारे में हमारा मत परम्परागत विद्वानों के साथ है ।

समस्त सत्त्वों की सम्पूर्ण दु:खों से आत्यान्तिक विमुक्ति के लिए बुद्धत्व की प्राप्ति ही तन्त्रविद्या का चरम उद्देश्य है । इस तन्त्रपरम्परा में ऐसे लोगों का प्रवेश ही वर्जित है, जो व्यक्तिगत मोक्ष के आकांक्षी हैं । स्वमुक्ति के अभिलाषी भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण साधक नहीं होते । वे शमथ-विपश्यना, विद्या-आचरण एवं लौकिक-लोकोत्तर मार्ग के उत्तम साधक होते हैं, फिर भी उनका उद्देश्य क्योंकि व्यक्ति-सीमा तक ही परिमित होता है, अत: इस परार्थ मार्ग में उन्हें परिवर्जनीय माना गया है । तन्त्रमार्ग के भी अपने विशिष्ट 'शील', 'समय' एवं 'संवर' होते हैं, जिनका उन्हें कड़ाई से पालन करना होता है और उनसे च्युत होने पर भयङ्कर नरकों में उनका पतन भी अवश्यम्भावी होता है । हाँ, यह अवश्य है कि साधना की विशेष अवस्थाओं में क्षिप्र सिद्धि के लिए तन्त्रों में कुछ तीक्ष्ण एवं विशेष उपायों की चर्चा है, किन्तु परम्परा से अनभिज्ञ, शास्त्रों के अक्षरार्थ का अनुगमन करने वाले पण्डितम्मन्य लोगों के लिए उनका सही-सही अर्थ समझ पाना अत्यन्त कठिन है । मध्यकाल और आधुनिक युग के अनेक पण्डितों ने तन्त्रों पर मिथ्याचार, आडम्बर एवं दुराचरण बढ़ाने का दोषारोपण किया है । हर साधना-परम्परा में ऐसे कुछ अनधिकारी एवं ढोंगी उपलब्ध हो सकते हैं, किन्तु उनके कारण दर्शन, साधना, कला, चिकित्सा, ज्योतिष, गणित आदि महनीय भौतिक-आध्यात्मिक विद्याओं से समन्वित तन्त्रपरम्परा की अवहेलना एवं उसकी महत्ता की उपेक्षा करना न तो उचित है और न मानवहित में ही है । गुरु-परम्परा से जिन्हें तन्त्र-मार्गों की सही जानकारी प्राप्त है, ऐसे विद्वानों की दृष्टि में उपर्युक्त सारे दोषारोपण नितान्त असम्बद्ध और उनके तन्त्र-विषयक अज्ञान के परिचायक हैं । प्रसन्नता की बात है कि इधर तन्त्रों के बारे में विद्वानों में न केवल जिज्ञासा ही बढ़ी है, अपितु पर्याप्त समझदारी का भी उदय हुआ है । यह शुभ लक्षण है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ

प्रस्तुत पिण्डीक्रम एवं पञ्चक्रम नामक यह ग्रन्थ गुह्यसमाज तन्त्र की स्वतन्त्र एवं प्रामाणिक टीका है । आचार्य नागार्जुन इसके रचयिता हैं । इसलिए बौद्धतन्त्र परम्परा में इस ग्रन्थ का अत्यधिक महत्त्व है । इसमें गुह्यसमाज तन्त्र के साधना-तत्त्वों का संक्षिप्त, स्पष्ट एवं तात्त्विक निरूपण किया गया है । इसमें अनुत्तर योगतन्त्र के उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम की साङ्गोपाङ्ग व्याख्या की गई है । आचार्य नागार्जुन ने निष्पन्नक्रम में पाँच क्रम माने हैं, यथा— वज्रजापक्रम,

अनुत्तरसन्धिक्रम, स्वाधिष्ठानक्रम, अभिसम्बोधिक्रम एवं युगनद्धक्रम । ग्रन्थ की महत्ता को देखते हुए हमने इसका प्रामाणिक एवं सुरुचिपूर्ण संस्करण करने का निश्चय किया । यद्यपि इसका एक संस्करण लुइस डी ला वेली पूसें द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था, किन्तु प्रतीत होता है कि पर्याप्त सामग्री की अनुपलब्धता के कारण उसका जैसा होना चाहिए, वैसा प्रकाशन सम्भव न हो सका । हमने प्रस्तुत संस्करण की पाठ-शुद्धि एवं पाठनिर्धारण के लिए संस्कृत की विभिन्न पाँच पाण्डुलिपियों का उपयोग किया है, यथा—

संङ्केत- क (१) edited by Louis de-la Vallee Poussin in DE L'UNIVERSITY DE GAND, 1896.
[Rec.] by T.W. Rhys Davids. (JRAS, 1896, p.384)
[Rec.] by S.Levi (R. Cr., No 28, P, 21 F. 1896)

संङ्केत- ख (२) डॉ० ठाकुरसेन नेगी के संग्रह से प्राप्त पाण्डुलिपि । डॉ० नेगी केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान द्वारा परिचालित 'दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना' के अन्तर्गत सन् १९८७ में बौद्ध हस्तलेखों के सर्वेक्षण के लिए नेपाल गये थे । वहाँ उन्हें यह प्रति व्यक्तिगत संग्रह से प्राप्त हुई थी । विवरण इस प्रकार है- हस्तलेख संख्या २५/८९, पत्र सं०-३४, आधार नेपाली कागज, देवनागरी लिपि, पूर्ण ।

संङ्केत- ग (३) यह हस्तलेख राष्ट्रीय अभिलेखालय काठमाण्डू, नेपाल में 'क्रमसाधन पञ्चक्रम' शीर्षक से संरक्षित है । विवरण इस प्रकार है— हस्तलेख संख्या- ४/१२२, आधार ताडपत्र, भुजिमोल लिपि, अपूर्ण । इस हस्तलेख की माइक्रोफिल्म प्रति शान्तरक्षित पुस्तकालय (केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ) में तथा इसी की फोटो-प्रिन्ट प्रति सरस्वती भवन ग्रन्थालय (सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) में संरक्षित है, जिसकी क्रम सं०-बी-३१/१० है ।

संङ्केत- घ (४) गायकवाड ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट बड़ौदा में यह हस्तलेख 'युगनद्ध क्रम' शीर्षक से संरक्षित है, जिसका विवरण इस प्रकार है— हस्तलेख संख्या-१३२९६, आधार नेपाली कागज,

पत्र सं०-१५, देवनागरी लिपि, अपूर्ण । इसकी जिराक्स प्रति केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ की दुलर्भ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना इकाई में संरक्षित है ।

संङ्केत- घ (५) यह हस्तलेख बिब्लियोथिके नेशनलि पेरिस, फ्रान्स में 'पञ्चक्रम' शीर्षक से संरक्षित है । इसका विवरण इस प्रकार है— हस्तलेख सं०- ६५, देवनागरी लिपि, आधार भारतीय कागज, अपूर्ण । इस हस्तलेख की माइक्रोफिल्म प्रति केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ में संरक्षित है ।

इसके अलावा ग्रन्थ-संशोधन में निम्नलिखित छह भोट-संस्करणों से भी सहायता ली गई है, यथा—

(१) पेकिङ्ग संस्करण
(२) दे-गे-संस्करण
(३) छग-लोचावा का अनुवाद, पेकिङ्ग संस्करण
(४) लक्ष्मीङ्करा की टीका, तनग्युर-संग्रह (दे-गे संस्करण)
(५) नागबोधि की टीका, तनग्युर-संग्रह (दे-गे संस्करण)
(६) रत्नाकरशान्ति विरचित पिण्डीकृतसाधनवृत्ति रत्नावलि, तनग्युर-संग्रह (दे-गे संस्करण)

हमने यथासम्भव शुद्ध पाठ देने का प्रयास किया है तथा पाठान्तरों का संकेत पाद-टिप्पणी में यथास्थान कर दिया है । फिर भी त्रुटि की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता । विज्ञ पाठक त्रुटियों की ओर इङ्गित करने की अवश्य कृपा करेंगे, ऐसी आशा है ।

आभार

हमारे निवेदन पर परमपूज्य परमपावन दलाई लामा जी ने करुणापूर्वक हमें पञ्चक्रम का उपदेश देने की विगत अगस्त १९८९ में स्वीकृति प्रदान की । तदनुसार सारनाथ, वाराणसी से कुछ बन्धु धर्मशाला गए । हमारे हाथ में पञ्चक्रम का एक पुराना संस्करण था, जो हमें अपर्याप्त प्रतीत हुआ । तभी हमने इस ग्रन्थ के प्रामाणिक संस्करण का निश्चय किया । अनेक व्यस्तताओं के कारण इस छोटे

से काम में बहुत अधिक समय लग गया । देर से ही सही, जिज्ञासु पाठकों के समक्ष इसे प्रस्तुत करते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है । हमारा यह सारा कार्य परमपावन दलाईलामा जी की कृपा का फल है । परम कारुणिक गुरु वज्रधर परमपावन दलाई लामा जी के चरण-कमलों में हमारा यह तुच्छ अर्थगुम्फित शब्दपुष्पोपहार सादर समर्पित है ।

सम्पादक

भूमिका

नमो गुरवे मञ्जुघोषाय

तथागत शाक्यमुनि भगवान् बुद्ध ने महाकरुणा से प्रेरित होकर सर्वप्रथम स्वयं में बोधिचित्त का उत्पाद किया । पारमिताओं की साधना के द्वारा उन्होंने अनन्त पुण्य और ज्ञान सम्भारों का संचय किया तथा उनके द्वारा क्लेश और ज्ञेय आवरणों का समूल प्रहाण कर सम्यक् संबुद्धत्व प्राप्त किया । तदनन्तर विभिन्न आशय, धातु एवं बुद्धि की क्षमता वाले विनेयजनों की पात्रता के अनुसार अनेक प्रकार की धर्मदेशनाएं कीं ।

समस्त धर्मोपदेश अन्ततोगत्वा सभी सत्त्वों को अशेष दुःखों से मुक्त कराकर उन्हें सम्यक्सम्बुद्धत्व प्राप्त कराने के उद्देश्य से ही प्रदत्त हैं । आचार्य आर्यदेव के अनुसार तीन चर्याओं में समस्त उपदेशों का वर्गीकरण किया जा सकता है, यथा— (१) हीनाधिमुक्त विनेयजनों के लिए विराग चर्या (२) उदाराधिमुक्त विनेयजनों के लिए भूमि एवं पारमिताओं की चर्या तथा (३) अतिगम्भीर अधिमुक्ति वाले विनेयजनों के लिए मन्त्रचर्या । उसी प्रकार आचार्य त्रिपिटककमल (कम्बलपाद) के नयत्रयप्रदीप में समस्त बुद्धवचनों का चतुरार्यसत्यनय, पारमितानय एवं महागुह्य मन्त्रनय इन तीन नयों में वर्गीकरण किया गया है । आचार्य ज्ञानकीर्ति भी उपर्युक्त विभाजन ही स्वीकार करते हैं । आचार्य मैत्रेयनाथ ने सूत्रालङ्कार में समस्त बुद्धवचनों का संग्रह दो पिटक में भी किया है, यथा— श्रावक पिटक एवं बोधिसत्त्व पिटक[१] । इन सभी (वर्गीकरणों) का आधार यह है कि जो विनेय जन दुःखमय संसार-सागर से स्वयं की मुक्ति की अभिलाषा तो रखते हैं, किन्तु तात्कालिकरूप से सम्पूर्ण सत्त्वों के हित और सुख के लिए सम्यक् संबुद्धत्व की प्राप्ति का अध्याशय नहीं रख पाते, उन लोगों के लिए चार आर्य सत्य और उनके अनित्यता आदि षोडश आकारों की भावना तथा पुद्गलनैरात्म्य का साक्षात्कार करके क्लेशावरण का प्रहाण करते हुए काल और चर्या के भेद से अर्हत्त्व अथवा प्रत्येकबुद्धत्व प्राप्त करने के उद्देश्य से जो धर्मदेशना

---

१. पिटकत्रयं द्वयं वा सङ्ग्रहतः कारणैर्नवभिरिष्टम् ।
वासनबोधनशमन-प्रतिवेधैस्तद् विमोचयति ।।

द्र०- महायानसूत्रालंकार, ११:१, पृ० ५५ ।

दी गई है, वे सभी बुद्धवचन विरागचर्या अथवा आर्यसत्यनय अथवा श्रावकपिटक कहलाते हैं ।

जो उत्तम विनेय जन सम्पूर्ण सत्त्वों के हित के लिए सम्यक्संबुद्धत्व प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं, उन लोगों के लिए उपदिष्ट सूत्रवचन, जो दश भूमि तथा छह अथवा दश पारमिताओं की साधना एवं धर्मनैरात्म्य का विभिन्न प्रकार की युक्तियों द्वारा प्रतिवेध कर ज्ञेयावरण के प्रहाण का उपाय बताते हैं, उन्हें पारमिताचर्या अथवा भूमि एवं पारमिता नय अथवा बोधिसत्त्व पिटक कहते हैं ।

अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि वाले विनेय जन, जो समस्त सत्त्वों के दुःखों को देखकर प्रबल महाकरुणा से प्रेरित होकर अत्यन्त शीघ्रता से या अल्प समय में ही बुद्धत्व प्राप्त करने की दृढ अधिमुक्ति रखते हैं, ऐसे लोगों के लिए जो देवयोग के साथ फल को मार्गीकृत करके पारमिताओं की साधना के अतिगम्भीर एवं विशेष प्रकार के उपाय की देशना की गई है, उसे मन्त्रचर्या अथवा महागुह्य मन्त्रनय कहते हैं । अतः ये बोधिसत्त्व पिटक के अन्तर्गत भी समाविष्ट हो जाते हैं ।

इस प्रकार बौद्ध मन्त्र नय अथवा मन्त्रयान महायान का ही एक विशिष्ट अंग है । अतः इसमें निर्दिष्ट समस्त साधना बुद्धत्व-प्राप्तिमूलक है । अर्हत् अथवा प्रत्येकबुद्ध आदि, जो अपनी मुक्ति मात्र के अभिलाषी हैं, वे भी जब इसके पात्र नहीं हैं तो ऐसी स्थिति में जो मन्त्रयान को मात्र ऐहिक जीवन की सुख-सुविधा का साधन मानते हैं अथवा अभ्युदय मात्र के लिए उसकी साधना में प्रवृत्त होते हैं, इससे बढ़कर और कोई अन्य मूढता नहीं हो सकती ।

बुद्धवचनों को त्रिपिटक में विभाजित करने या संगृहीत करने की दृष्टि से विचार किया जाए तो तन्त्रपिटक सूत्रपिटक के अन्तर्गत गृहीत होता है— ऐसा सुबाहुपरिपृच्छातन्त्र में कहा गया है । इसी के आधार पर आचार्य शान्तिपाद ने तन्त्रपिटक को सूत्रपिटक के अन्तर्गत परिगणित किया है । अभयाकर गुप्त के मतानुसार तन्त्र देशना में तीनों पिटकों की व्यवस्था की गई है । यदि तन्त्र को पृथक् पिटक मानें तो इसे विद्याधरपिटक की संज्ञा दी गई है ।

आचार्य धर्ममित्र आदि अनेक भारतीय विद्वानों के मतानुसार सङ्गीति-कर्त्ताओं ने भी सामान्य महायानसूत्रों की पृथक् सङ्गीति नहीं मानी, अपि तु महाकाश्यप, आनन्द एवं उपालि द्वारा ही महायानसूत्रों का भी संगायन हुआ है—

ऐसा माना गया है । परन्तु आचार्य भावविवेक ने अपनी तर्कज्वाला में उपर्युक्त मत का निराकरण करते हुए अपना मत इस प्रकार उपस्थित किया है :

"जब विपुलगिरि में सामान्य सूत्रों का संगायन हो रहा था, उसी समय विमलसम्भव गिरि पर समन्तभद्र, मञ्जुश्री, गुह्यकाधिपति वज्रपाणि, मैत्रेयनाथ आदि बोधिसत्त्वों द्वारा महायानसूत्रों का सङ्गायन हो रहा था तथा उसी समय समस्त तन्त्रों का सङ्गायन वज्रपाणि द्वारा किया गया" ।

विदित है कि जिस प्रकार महायान वाङ्मय तथागत के परिनिर्वाण के बाद जम्बूद्वीप (भारत) में सर्व सामान्य रूप से प्रचलन में नहीं रहा, हालाँकि देव या नाग लोक में वह संरक्षित रहा, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट तन्त्र वाङ्मय भी सार्वजनिक तौर पर भारत में प्रचलित नहीं था । आचार्य नागार्जुन आदि महारथियों ने जिस प्रकार महायानसूत्रों को पुनः प्रचलित किया, उसी प्रकार बौद्ध तन्त्रों को भी धीरे-धीरे प्रकाशित किया । इसलिए परम्परागत समस्त आचार्य बौद्ध तन्त्रों को निःसन्दिग्ध रूप से बुद्धवचन ही मानते आए हैं । किन्तु कालान्तर में इन ग्रन्थों में कोई प्रक्षेप नहीं हुआ, ऐसा निःसन्दिग्ध रूप से कहा नहीं जा सकता ।

तन्त्रनय को गुह्यमन्त्र, वज्रयान, फलयान, उपाययान आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है । अधिकांश बौद्ध तन्त्र शास्त्रों में 'गुह्यमन्त्र-वज्रफलयान' नाम का ही व्यवहार होता है, यथा— श्री श्रद्धाकर वर्मा के अनुत्तर योगतन्त्रार्थावतारसंग्रह में इसी नाम का व्यवहार उपलब्ध होता है ।

तन्त्र का अर्थ

तन्त्र का अर्थ 'अविच्छिन्न सन्तति' है । पृथग्जन अवस्था से लेकर बुद्धत्व प्राप्ति पर्यन्त निरन्तर प्रवहमान चित्तसन्तति, जो मार्ग द्वारा शोधनीय वस्तु है, वह 'वस्तु-तन्त्र' कहलाती है ।

चित्त का शोधन करने वाले प्रज्ञोपाय-युगनद्ध मार्ग की अविच्छिन्न सन्तति 'मार्ग-तन्त्र' कहलाती है । तथा उस मार्ग से प्राप्य बुद्ध के रूपकाय और ज्ञानकाय के युगनद्धत्व की अविच्छिन्न सन्तति 'फल-तन्त्र' कही जाती है ।

इन वस्तु, मार्ग एवं फल तन्त्रों को विषय बनाकर जो बुद्धवचन उपदिष्ट है, वह वाङ्मय 'तन्त्र-वाङ्मय' कहलाता है ।

गुह्यमन्त्र— अपात्र लोगों से गुह्य रखना या जो उनका (अपात्रों का) विषय नहीं है तथा जिसकी साधना भी गुप्तरूप से करनी होती है, उसे 'गुह्य' कहते हैं । संक्लिष्ट मन का त्राण (रक्षा) करने का उत्तम उपाय होने से यह 'मन्त्र' कहा जाता है । यथा :

तन्मनो मननं ख्यातं कारकत्राणनार्थतः[१] ।

अथवा मन तत्त्व (शून्यता-) ज्ञान है तथा जगत् के त्राण की अभिलाषा करुणा है । इन दोनों के संयोग से ही साधना सम्भव होती है, इसलिए भी 'मन्त्र' कहा जाता है ।

वज्रयान— वज्र का अर्थ अभेद्य अथवा अच्छेद्य है[२] । पारमितानय एवं मन्त्रनय दोनों क्रमशः हेतु एवं फल के रूप में अव्यवहित स्थित हैं और वह यान भी है, इस कारण 'वज्रयान' ऐसा कहा गया है— ऐसा विमलप्रभाटीकाकार[३] का मत है । यहां पर उन दोनों के हेतु-फल के रूप में अभेद का भी एक विशेष व्याख्यान है । सर्वाकारवरोपेत शून्यता हेतु है और परमाक्षर सुख फल है । इन दोनों का अभेद है, इसलिए वह 'वज्र' है । इस पर आधारित यान 'वज्रयान' कहा जाता है— ऐसा सेकोद्देश टीका में कहा गया है[४] । परन्तु यह परिभाषा मात्र अनुत्तर तन्त्र के लिए उपयुक्त है । यह समस्त वज्रयान पर समानरूप से लागू नहीं है । रत्नाकर शान्ति ने गुह्यसमाज की टीका कुसुमाञ्जलिनिबन्ध में प्रज्ञा और उपाय का अभेद रूप से प्रयोग करने वाले वज्रसत्त्व योग को 'वज्रयान' कहा है और इसमें मार्ग एवं फल दोनों की अवस्था निहित है ।

---

१. द्र०-गुह्यसमाजतन्त्र, १८,७०, पृ० १२६ ।

२. दृढं सारमसौषीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।
अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ।। द्र०-अद्वयवज्रसंग्रहे सेकतान्वयसंग्रहः, पृ०-३७ ।

३. वज्रमभेद्यमच्छेद्यं महदिति । तदेव यानं मन्त्रनयं पारमितानयं फलहेत्वात्मकम् एकलोलीभूतम् ।
(द्र०-विमलप्रभा, पृ० १६३) ।

४. द्र०-सेकोद्देशटीका, पृ०-८ ।

फलयान— इसमें फल अर्थात् बुद्धभूमि के काय, स्थान, परिवार एवं उपभोग्य वस्तु के सदृश मार्ग-साधना उपदिष्ट है, इसलिए यह 'फलयान' कहा जाता है ।

उपाययान— पारमितायान से अधिक एवं सशक्त उपायों का अवलम्बन करने के कारण यह 'उपाययान' कहा जाता है ।

तन्त्रयान की विशेषता

तन्त्रयान और पारमितायान दोनों की पृथग् व्यवस्था पर विविध मत

पारमितायान और तन्त्रयान दोनों की पृथग् यान के रूप में व्यवस्था करने का हेतु वस्तुतः क्या है— यह एक विचारणीय प्रश्न है । यह विचार भी इसलिए उत्पन्न होता है, क्योंकि दोनों ही यानों के साधक बोधिचित्त का उत्पाद कर समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए सम्यक्संबोधि प्राप्त करना चाहते हैं तथा उनके द्वारा प्राप्त संबोधि में भी किसी प्रकार का कोई न्यूनाधिक भेद नहीं होता । सर्वधर्मनिःस्वभावता अर्थात् शून्यता के बारे में भी दोनों यानों में कोई मौलिक मतभेद नहीं है, क्योंकि आचार्य नागार्जुन ने प्रज्ञापारमितासूत्रों का जैसा अभिप्राय प्रदर्शित किया है, तन्त्रयान में उससे कोई भिन्नता दिखाई नहीं देती । यदि शून्यता के स्वरूप के बारे में कुछ भेद मान भी लिया जाए तो भी इतने से दोनों को पृथग् यान के रूप में व्यवस्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि विदित है कि योगाचार और माध्यमिक दर्शन-प्रस्थानों में शून्यता के स्वरूप के बारे में कुछ भेद है, तो भी उतने भेद के कारण उन दोनों यानों के पारमितायानी होने में कोई बाधा नहीं होती । छह पारमिताओं की साधना में भी दोनों यानों में कोई मतभेद नहीं है, ऐसी स्थिति में यह प्रश्न अपनी जगह पर पहले की तरह ही स्थित है कि इन दोनों यानों की भेद-व्यवस्था के निगामक तत्त्व क्या हैं ?

(१) कुछ कम समझ लोग ऐसा कह सकते हैं कि राग से युक्त विनेय जनों के लिए तन्त्रयान है, तथा वैराग्य से युक्त विनेय जनों के लिए पारमितायान है । किन्तु उनका ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि पारमितायान में भी गृहस्थ बोधिसत्त्व होते हैं, जो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करते । दूसरी तरफ तन्त्रयान में भी विरक्त साधक देखे जाते हैं । तथा दोनों ही के द्वारा बुद्धत्व प्राप्त

किया जाता है । दूसरी विशेष बात यह है कि बिना कामराग का प्रहाण किए किसी भी यान की दृष्टि में बुद्धत्व प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है । क्रमशः दोषों के क्षय और सद्गुणों की अभिवृद्धि द्वारा ही बुद्धत्व रूपी लक्ष्य सिद्धि सम्भव होती है ।

(२) कुछ लोग ऐसा कह सकते हैं कि मार्ग का सुख-सहगत होना तथा सुख-सहगत न होना ही दोनों यानों की पृथग् व्यवस्था का हेतु है, किन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यह सभी भली-भाँति जानते हैं कि शमथ के द्वारा भी काय-प्रश्रब्धि उत्पन्न होती है, जिससे अत्यन्त सुख और प्रीति का अनुभव होता है तथा चित्त शान्तिपूर्वक आलम्बन में स्थित रहता है । शमथ के इस माहात्म्य को सभी लोग मानते भी हैं । ऐसी स्थिति में उपर्युक्त मत भी समीचीन नहीं है ।

(३) उपर्युक्त मतावलम्बी ऐसा कह सकते हैं कि सुखसहगत मार्ग से हमारा तात्पर्य शुक्ल-बोधिचित्त और रक्त-बोधिचित्त का विशिष्ट संयोग, मर्माघात तथा आर्द्रीभाव द्वारा तत्त्वावबोध होना है । उनका यह कथन भी समीचीन नहीं है, क्योंकि यह विशेषता तो केवल अनुत्तर तन्त्र की ही है । यह क्रिया, चर्या आदि सभी तन्त्रों की सामान्य विशेषता नहीं है । अतः यह भी दोनों यानों की पृथग् व्यवस्था का सम्यग् हेतु नहीं है ।

पृथग् यान-व्यवस्था का सम्यग् हेतु

ऊपर कहा गया है कि पारमितायान और तन्त्रयान दोनों के द्वारा प्राप्त होने वाले बुद्धत्व में कोई अन्तर नहीं है । साथ ही यह भी कहा गया है कि बोधिचित्त, करुणा एवं छह पारमिताओं की भावना आदि उपायों में भी दोनों यानों में कोई भेद नहीं हैं । फिर भी मार्ग में कुछ मौलिक विशेषताएँ हैं, जिनकी वजह से पृथग् यान की व्यवस्था की जाती है ।

विदित है कि भगवान् बुद्ध अपने रूपी कायों द्वारा प्राणियों का सर्वविध कल्याण सिद्ध करते हैं । उन रूपी कायों की सिद्धि के उपायभूत मार्ग में दोनों यानों में अन्तर आ जाता है और इसी कारण पृथग् दो यान व्यवस्थापित किये जाते हैं ।

पारमितायान के अनुसार सर्वधर्मशून्यता धर्मकाय के सदृश (अनुरूप) है । अत: धर्मकाय की प्राप्ति के लिए अनुरूप मार्ग की भावना की जाती है, किन्तु सभी बत्तीस लक्षणों और अस्सी अनुव्यञ्जनों से विभूषित भगवान् के रूपी काय के अनुरूप किसी मार्गभावना का अभ्यास पारमितायान में नहीं किया जाता ।

तन्त्रयान में रूपी काय के अनुरूप मार्गभावना का विधान है । तन्त्र के अनुसार रूपी काय की आकृति के तुल्य देवमण्डलयोग की भावना रूपी काय की सिद्धि का श्रेष्ठ उपाय है । तन्त्र के अनुसार धर्मकाय की सिद्धि के लिए जैसे तत्सदृश शून्यताभावना अपेक्षित है, वैसे रूपी काय की सिद्धि के लिए तत्सदृश देवमण्डलयोग की भावना नितान्त अपेक्षित है ।

बौद्ध न्याय के अनुसार हेतु का भेद फलभेद का नियामक होता है । यदि हेतुभेद होने पर भी फलभेद न हो तो हेतु की व्यर्थता का प्रसङ्ग होगा । ऊपर कहा गया है कि रूपी काय की सिद्धि के उपाय में दोनों यानों में भेद है । ऐसी स्थिति में फलभेद भी अवश्य होना चाहिए । जबकि कहा यह जाता है कि दोनों यानों द्वारा प्राप्त होने वाले फल में कोई भेद नहीं है । फलत: यह एक विचारणीय प्रश्न हो जाता है ।

त्रिकाय की सिद्धि के मार्ग में ऊपर जो भेद कहा गया है, वह केवल शीघ्र फल देने और न देने की दृष्टि से ही है । पारमितायान में जिस त्रिकाय की प्राप्ति के लिए तीन असंख्येय कल्प पर्यन्त ज्ञानसम्भार और पुण्यसम्भार का अर्जन किया जाता है और तब कहीं जाकर त्रिकाय की सिद्धि होती है, वहीं तन्त्रयान का साधक विशेष उपायों का अवलम्बन कर शीघ्र ही इसी जन्म में बुद्धत्व का लाभ कर लेता है । इस शीघ्रगामिता के अलावा न तो मार्ग में कोई तात्त्विक भेद है और न बुद्धत्व फल में ही कोई स्वरूपभेद है । साथ ही हेतु की व्यर्थता का भी प्रसङ्ग नहीं है ।

तन्त्रयान की असाधारण विशेषताएँ

फल में समानता होने पर भी तन्त्रशास्त्रों में उन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, जिनके कारण तन्त्रयान पारमितायान से भिन्न होता है । तथा हि—

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहाद् बहूपायाददुष्करात् ।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते ।।

(द्र०-तत्त्वरत्नावली, पृ० २१) ।

अर्थात् निम्नलिखित चार विशेषताओं के कारण तन्त्रयान पारमितायान से भिन्न होता है । यथा— (क) असंमोह, (ख) उपायबहुलता, (ग) अदुष्करचर्या तथा (घ) तीक्ष्णेन्द्रियता ।

(क) असंमोह

यद्यपि पारमितायानी साधक भी कर्ता, कर्म, क्रिया अथवा देय, दायक और प्रतिग्राहक की निःस्वभावता के आधार पर ही दान आदि पारमिताओं के अभ्यास में प्रवृत्त होते हैं, अतः उनमें संमोह है, - यह तो नहीं कहा जा सकता, फिर भी उनमें उपायकुशलता की कमी होती है, जिसकी वजह से वे विलम्ब से बोधि प्राप्त करते हैं ।

सभी प्राणियों का सर्वविध कल्याण महायान का उद्देश्य है । इसके लिए पारमितायानी बोधिसत्त्व अपने हाथ, पैर, आँख, सिर, शरीर तक का दान कर देते हैं, किन्तु इससे कितने प्राणियों का हित सिद्ध किया जा सकता है ? इससे सभी का हित सम्भव नहीं है । इतने महान् उद्देश्य की सिद्धि सामान्य उपायों द्वारा नहीं का जा सकती । इसलिए तन्त्रयानी साधक विशेष उपायों का अवलम्बन करते हैं । उनमें उक्त प्रकार का अकौशल भी नहीं है, अतः वे शीघ्र बोधिलाभ करते हैं । देश और काल से अनवच्छिन्न प्रज्ञोपाय-अद्वयसमाधि ही वह उपाय है, जिसके द्वारा तन्त्रयानी साधक समस्त विनेय जनों की युगपद् इष्टसिद्धि करते हैं । इसी समय उनकी समस्त पारमिताएँ भी पूर्ण हो जाती हैं । इसलिए वे इसे छोड़कर अन्य उपायों में अपना समय जाया नहीं करते ।

(ख) उपायबहुलता

पारमितायान में संवर, तपस्या, व्रत, उपवास, आदि विविध शान्त उपाय निर्दिष्ट हैं, किन्तु इनके द्वारा समस्त प्राणी उपकृत नहीं किये जा सकते । तन्त्रयान में नाना आशय, रुचि एवं सामर्थ्य वालों के लिए चार तन्त्रवर्ग उपदिष्ट हैं, जिनमें न केवल शान्त, अपितु रौद्र, बीभत्स, भयानक आदि अनेक उपाय भी प्रदर्शित

हैं । तन्त्रशास्त्रों में ऐसे उपाय भी प्रदर्शित हैं, जिनके द्वारा राग, द्वेष आदि क्लेशों को, जो संसारचक्र के मूल है, उन्हें बुद्धत्व-प्राप्ति के मार्ग के रूप में परिणत कर दिया जाता है । फलतः साधक अपनी सन्तति में स्थित क्लेशों के अनुरूप ही विभिन्न मण्डलों में प्रवेश करते हैं ।

(ग) अदुष्करचर्या

जहाँ तक दुष्करता या अदुष्करता का सवाल है, यह नितान्त बुद्धिसापेक्ष है । किसी-किसी के लिए कष्टकर कार्य भी सुखकर प्रतीत होता है । तन्त्रयानी साधक यथेच्छ उपायों का अवलम्बन कर अपनी इष्टसिद्धि करते हैं । सुख से सुख की उपलब्धि करना तन्त्र की एक विशेषता है । अतः कष्टकर तपश्चरण इसमें आवश्यक नहीं है ।

(घ) तीक्ष्णेन्द्रियता

गम्भीर प्रज्ञा और विस्तृत उपायों से अनभिज्ञ होने के कारण श्रावक मन्देन्द्रिय होते हैं । उपायों की समग्रता से अनभिज्ञ होने के कारण पारमितायानी मध्येन्द्रिय होते हैं तथा तन्त्रयान के साधक सभी प्रकार के मोह से रहित होने के कारण तीक्ष्णेन्द्रिय होते हैं । साथ ही उपायकुशल होने के कारण वे ऐसे-ऐसे कर्मों से भी सुविशुद्ध परम पद प्राप्त करते हैं, जिन कर्मों से सामान्य जन दुर्गति में पतित होते हैं ।

इस प्रकार तन्त्रयान को पारमितायान से भिन्न करने वाली विशेषता प्रज्ञा नहीं, अपि तु उपाय है । पारमितायान में भी दान आदि पाँच पारमिताओं का अनुष्ठान उपाय के रूप में मान्य है, जिससे पुण्यसम्भार का संचय होता है, जो (पुण्यसञ्चय) शून्यता को जानने वाली प्रज्ञा को ज्ञेयावरण के प्रतिपक्ष योग्य बनने में कारण होता है तथा रूपकाय की प्राप्ति में सहायक होता है । परन्तु यह उपाय तन्त्रयान के उपाय की अपेक्षा अवर कोटि का है, जिससे फल-प्राप्ति में अधिक समय लगता है, चर्या करने में दुष्कर है तथा अपूर्ण है । इसलिए तन्त्रयान में जिस विशिष्ट उपाय की देशना की गई है, वह 'देव-मण्डल योग' है । जिसमें समस्त पारमिताओं का अनुष्ठान एक साथ होने के अतिरिक्त साधक के काय को देवता के रूप में उत्पन्न किया जाता है और वज्रदेह की मर्माहति के द्वारा रूपकाय के उपादान हेतु का संवर्धन किया जाता है । इन दोनों के अलावा तन्त्रयान के उपाय

की एक विशेषता और है, जो क्लेशों के मार्गीकरण की विधि है । इन सबके कारण मार्ग का मुख्य आलम्बन शून्यता और उसके ज्ञाता ज्ञान में भेद नहीं होने पर भी उपायों की विशेषता, बहुलता और सुगमता के कारण बुद्धत्व प्राप्ति में पारमितायान से वज्रयान अतिविशिष्ट होता है ।

बौद्ध तन्त्र की विशेषता

क्लेश और ज्ञेय आवरणों का प्रहाण करके रूपी काय एवं धर्मकाय से युक्त बुद्धत्व प्राप्त करने का उपदेश सभी बौद्धेतर धर्मों से विशिष्ट है । फलतः इस प्रकार के बुद्धत्व की प्राप्ति के असाधारण मार्ग अर्थात् बौद्ध तन्त्र का भी अन्य बौद्धेतर तन्त्रों से विशिष्ट होना स्वाभाविक है । बौद्ध तन्त्र का चरम उद्देश्य बुद्धत्व प्राप्त करने के अतिरिक्त और कुछ अन्य नहीं है, इसलिए उद्देश्य की भिन्नता से ही इसकी विशेषता स्वयमेव सिद्ध होती है ।

इसका उद्देश्य क्योंकि बुद्धत्व प्राप्त करना ही है, इसलिए बोधिचित्त का उत्पाद किये बिना व्यक्ति बौद्ध तन्त्र का साधारण पात्र भी नहीं बन सकता । समस्त तन्त्र की साधना में महाकरुणा और बोधिचित्त प्रारम्भ में, मध्य में एवं अन्त में अनिवार्य रूप से आवश्यक होते हैं । अतः न केवल बौद्धेतर तन्त्रों से बौद्ध तन्त्र विशिष्ट है, अपि तु श्रावकयान के मार्ग और साधनाओं से भी चित्तोत्पाद के कारण विशिष्ट है ।

साधारण महाकरुणा और बोधिचित्त बोधिसत्त्व को पारमितायान में भी या उसकी साधना में भी अर्हता प्रदान करते हैं, परन्तु तन्त्रयान में प्रवेश के लिए उस प्रकार की साधारण महाकरुणा एवं बोधिचित्त से काम नहीं चलता, बल्कि उसकी अपेक्षा अत्यन्त प्रबल करुणा और बोधिचित्त की अपेक्षा होती है, अतः पारमितायान से भी बौद्ध तन्त्र विशिष्ट है ।

प्रकट रूप से देवमण्डल के देवताओं अथवा मण्डल निर्माण विधि में बौद्धेतर तन्त्र बौद्ध तन्त्र के समान हो सकते हैं, परन्तु उस देवमण्डल के प्रत्येक योग, पूजन, जाप, साधना में अत्यन्त भिन्नता होती है । यह (भिन्नता) ऊपर दर्शाए गए मात्र उद्देश्य और बोधिचित्त की अपेक्षामात्र से ही नहीं है, अपि तु दर्शन का भेद भी इसमें प्रमुख है ।

सामान्य देवमण्डल योग के लिए न्यूनतम चित्तमात्रतादर्शन की अनिवार्यता है । किसी भी तन्त्र साधना के प्रयोगमार्ग के समकक्ष पहुँचने के लिए माध्यमिक दर्शन की अनिवार्यता है । समस्त धर्मों को निःस्वभावता में शुद्ध किए बिना किसी भी देवमण्डल की भावना प्रारम्भ नहीं होती । समस्त पूजन-सामग्री को भी शून्य में विशुद्ध करके पुनः उत्पत्तिक्रम से अधिष्ठित किया जाता है । संक्षेप में बोधिचित्त और शून्यता ज्ञान के बिना बौद्ध तन्त्र का अर्थ ही नहीं रह जाता । बोधिचित्त और शून्यता-ज्ञान दोनों किसी बौद्धेतर तन्त्र में नहीं पाए जाते, इसलिए बौद्ध तन्त्र बौद्धेतर तन्त्रों से पृथक् है ।

प्राणायाम, चक्रभेदन आदि अनेक विधियाँ बौद्ध एवं बौद्धेतर तन्त्रों में समान हो सकती हैं, परन्तु इन विधियों से प्राप्त होने वाले शारीरिक परिवर्तनों अथवा सुख-संवेदनाओं को बोधिचित्त और शून्यता-ज्ञान से मार्गीकृत किए बिना ये सब मात्र शारीरिक एवं लौकिक क्रिया मात्र सिद्ध होंगी, जिससे आध्यात्मिक उत्कर्ष सम्भव नहीं होगा । बौद्ध तन्त्र में इन सब विधियों को बोधिचित्त और शून्यताज्ञान के सहयोग से बुद्धत्व प्राप्ति के मार्ग के रूप में विनियुक्त किया जाता है । इसलिए यह अन्य तन्त्रों से विशिष्ट है ।

तन्त्र के भेद

प्रज्ञा के विषय (शून्यता) एवं (उस शून्यता के) ज्ञान में कोई भेद नहीं होने पर भी उसके साथ संयुक्त होने वाले उपायों के भेद से यानभेद होता है । इसी प्रकार वज्रयान के अन्तर्गत होने पर भी देवयोग-उपाय के द्वारा क्लेशों को मार्गीकृत करने की क्षमता के भेद से भी तन्त्रों के चार भेद किए गए हैं । अर्थात् जो विनेय जन विभिन्न स्तर के क्लेशों को मार्गीकृत करने की तथा उसके अनुरूप देवयोग-भावना करने की विभिन्न क्षमता रखते हैं, उसके अनुरूप ही विभिन्न चार तन्त्रों की देशना की गई है[१] ।

क्रियातन्त्र

जो विनेय जन भाव्यमान विद्या के साथ परस्पर ईक्षण द्वारा उत्पादित राग को मार्गीकृत करने में सक्षम हैं तथा उतने (ईक्षण) से उत्पन्न सुख को शून्यताज्ञान

---

१. द्र०-सम्पुटतन्त्र, वज्रपञ्जरतन्त्र ।

के साथ सम्प्रयुक्त करने की क्षमता रखते हैं, किन्तु इतने राग से अधिक राग को मार्गीकृत करने तथा उतने सुख से अधिक सुख को शून्यता-ज्ञान से सम्प्रयुक्त करने की क्षमता नहीं रखते, ऐसे विनेय जन क्रियातन्त्र के पात्र हैं । अर्थात् उनके लिए क्रियातन्त्र की देशना की गई है ।

चर्यातन्त्र

जो विनेय जन भाव्यमान विद्या के साथ हास द्वारा उत्पादित राग को मार्गीकृत कर सकते हैं तथा उससे उत्पन्न उतने सुख को शून्यताज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त करने की क्षमता रखते हैं, किन्तु इससे अधिक राग को मार्गीकृत करने तथा उतने सुख से अधिक सुख को शून्यताज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त करने की क्षमता नहीं रखते–ऐसे विनेय जनों के लिए 'चर्यातन्त्र' की देशना की गई है ।

योगतन्त्र

जो विनेय जन भाव्यमान विद्या के साथ आलिङ्गन द्वारा उत्पादित राग को मार्गीकृत कर सकते हैं तथा उससे उत्पन्न उतने सुख को शून्यता-ज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त करने की क्षमता रखते हैं, किन्तु इससे अधिक राग को मार्गीकृत करने तथा उतने सुख से अधिक सुख को शून्यताज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त करने की क्षमता नहीं रखते, ऐसे विनेय जनों के लिए 'योगतन्त्र' की देशना की गई है ।

अनुत्तरतन्त्र

जो विनेय जन भाव्यमान विद्या तथा कर्ममुद्रा के साथ भी द्वीन्द्रियसमापत्ति तक के द्वारा उत्पादित राग को मार्गीकृत कर सकते हैं तथा उससे उत्पन्न सहज सुख अथवा परमाक्षर सुख को शून्यताज्ञान के साथ सम्प्रयुक्त करके शीघ्रातिशीघ्र समस्त क्लेश और ज्ञेय आवरणों का प्रहाण करने में सक्षम होते हैं, ऐसे विनेय जनों के लिए 'अनुत्तरतन्त्र' की देशना की गई है ।

इस प्रकार अनुत्तरतन्त्र की दृष्टि से चार तन्त्रों का वर्गीकरण करते समय इन्हें ईक्षण तन्त्र, हास तन्त्र, आलिङ्गन तन्त्र तथा द्वीन्द्रिय-समापत्ति तन्त्र के नाम से भी श्रीवज्रहृदयालङ्कार तन्त्र में कहा गया है ।

सामान्य रूप से क्रिया, चर्या आदि के भेद से जो वर्गीकरण किया गया है, वही अधिक प्रचलित है । इन नामों से एक दूसरे प्रकार के तन्त्रभेद का व्याख्यान भी उपलब्ध होता है ।

इस व्याख्यान के आधार पर जिस तन्त्र में देवयोग-उपाय की साधना करते समय बाह्य कर्मों (स्नान, आसन आदि) पर अत्यधिक आश्रित होना पड़ता है तथा आन्तरिक समाधि और बाह्य क्रिया में बाह्य क्रिया ही प्रधान होती है, इस प्रकार के तन्त्र को 'क्रिया तन्त्र' कहते हैं ।

देवयोग-उपाय की साधना मे जिस तन्त्र में बाह्य विधि-विधानों और आन्तरिक समाधि दोनों को समान महत्त्व दिया जाता है, किन्तु बाह्य कर्मों पर कुछ विशेष निर्भर रहा जाता है, उस प्रकार के तन्त्र को 'चर्यातन्त्र' कहते हैं ।

देवयोग-उपाय की साधना करते समय जिस तन्त्र में बाह्य विधि-विधानों एवं आन्तरिक समाधि इन दोनों में आन्तरिक समाधि को अधिक महत्त्व दिया जाता है, फिर भी सीमित बाह्य कर्म भी अनिवार्य समझे जाते हैं, उस तन्त्र को 'योगतन्त्र' कहते हैं ।

जिस तन्त्र में बाह्य विधानों पर कभी आश्रित नहीं रहा जाता, बल्कि आन्तरिक समाधि के अनुत्तरयोग को अधिक महत्त्व दिया जाता है, उसे 'अनुत्तर तन्त्र' कहते हैं । श्री वज्रहृदयालङ्कारतन्त्र में चर्या तन्त्र को 'उभय तन्त्र' कहा गया है[१] ।

सामान्य गुह्यतन्त्र, सुसिद्धिकरमहातन्त्र, सुबाहुपृच्छातन्त्र, ध्यानोत्तरतन्त्र आदि क्रियातन्त्र के प्रमुख एवं सम्पूर्ण मार्गफल-व्यवस्था को दर्शाने वाले तन्त्र हैं ।

चर्यातन्त्र के प्रमुख तन्त्र वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र आदि हैं ।

उसी प्रकार श्रीतत्त्वसंग्रहतन्त्र, वज्रशेखरभाष्यतन्त्र आदि योगतन्त्र के प्रमुख तन्त्र हैं ।

---

१. द्र०-श्रीवज्रहृदयालङ्कारतन्त्र ।

अनुत्तरयोगतन्त्र में पितृतन्त्र गुह्यसमाज तथा मातृतन्त्र हेवज्र एवं चक्रसंवरतन्त्र प्रमुख हैं । उन तन्त्रों से भिन्न कालचक्रतन्त्र आदि अनुत्तरतन्त्र के प्रमुख तन्त्र हैं ।

वैसे चारों तन्त्रों के अन्तर्गत असंख्य तन्त्र विद्यमान थे, परन्तु सम्प्रति जो चीनी या तिब्बती अनुवादों में उपलब्ध हैं, उनके अतिरिक्त विशाल वाङ्मय अनुपलब्ध है । इन चारों तन्त्रों की सामान्य मार्ग-व्यवस्था में अनेक प्रकार के अवान्तर भेद होते हैं, जिन्हें संक्षेप में मार्गप्रवेश या तन्त्रप्रवेश, अभिषेक, समय, संवर, उपासना, क्रमद्वययोग, सिद्धि एवं विविध कर्मानुष्ठान आदि में समाहित किया जा सकता है ।

अभिषेक

प्रथम दो तन्त्रों (क्रिया एवं चर्या) के अभिषेक के लिए चूर्णमण्डल, पटमण्डल अथवा ध्यानमण्डल, वर्टिकल (ऊर्ध्वाधर) मण्डलों में से किसी एक की आवश्यकता होती है । अभिषेक के समय बोधिसत्त्वसंवर मात्र लेना पड़ता है । इसलिए 'समय' भी बोधिसत्त्व मूलापत्ति एवं दुष्कृतमात्र होते हैं । इन दोनों तन्त्रों में कलश-अभिषेक के अतिरिक्त अन्य अभिषेक नहीं होते । कलशाभिषेक में भी जल एवं मुकुट अभिषेक की व्यवस्था है ।

योगतन्त्र में भी अभिषेक के मण्डल उपर्युक्त दो तन्त्रों के समान ही हैं । परन्तु अधिकांशतया योगतन्त्र के अभिषेक के पूर्व मन्त्रसंवर लेना होता है । इसके 'समय' में बोधिसत्त्वसंवर के समस्त समयों के अतिरिक्त मन्त्रसंवर के समयों का भी पालन करना होता है ।

अभिषेक में भी मात्र कलश-अभिषेक होता है । परन्तु पूर्वगामी दो तन्त्रों से अतिरिक्त वज्राचार्य-अभिषेक सहित सम्पूर्ण ११ कलशाभिषेक इस तन्त्र में दिये जाते हैं ।

क्रिया और चर्यातन्त्र में समस्त देव मुख्यतः तीन कुलों में समाविष्ट होते हैं, यथा— तथागतकुल, पद्मकुल एवं वज्रकुल । योगतन्त्र में तथागतकुल, रत्नकुल, पद्मकुल, कर्मकुल एवं वज्रकुल-इस तरह पाँच कुल होते हैं ।

क्रिया, चर्या और योगतन्त्र— इन तीनों की साधना में अनेक आन्तरिक भेद होते हुए भी बाह्य कर्मों में समता है । इन तीनों तन्त्रों में साधक की वस्तु-अवस्था के जन्म, मरण एवं अन्तराभव के समानाकार मार्ग की भावना नहीं होती, न ही वज्रदेह को मर्माहत करने की कोई प्रक्रिया है । इसलिए इन तीनों तन्त्रों में उत्पत्तिक्रम तथा निष्पन्नक्रम की भी व्यवस्था नहीं होती । इसके स्थान पर देवयोग में सनिमित्त और निर्निमित्त योग की भावना की जाती है । शून्यता का अध्यवसाय करने वाले ज्ञान के बल के बिना क्षीण हुए, देवमण्डल की स्पष्ट भावना अथवा भावित देवमण्डल की शून्यता का साक्षात्कार करने वाले योग को 'निर्निमित्त योग' कहते हैं ।

इसी प्रकार शून्यता का अध्यवसाय करने वाले ज्ञान या शून्यता के साक्षात्कार से रहित रहते हुए भावित देवमण्डल के योग को 'सनिमित्त योग' कहते हैं ।

इस प्रकार का देवयोग करते समय जप, उपासना, पूजन, अर्चन, हवन, प्राणायाम आदि उपायों से योग होता है और दीर्घायुष्य आदि सामान्य सिद्धियों के लाभ के साथ बुद्धत्व प्राप्त करने की साधना चलती है । इसलिए इन तीनों तन्त्रों में एक जीवन में बुद्धत्व प्राप्ति के उपाय तो है, परन्तु इस एक शरीर में या इस कषायात्मक युग के सामान्य अल्पकालिक शरीर में बुद्धत्व प्राप्ति के उपाय नहीं हैं ।

चारों तन्त्रों में सर्वश्रेष्ठ अनुत्तर योगतन्त्र में प्रवेश करने के लिए विनेय जन को सर्वप्रथम सामान्य मार्गों से भली प्रकार चित्त का विशोधन करके निःसरण-चित्त, बोधिचित्त और सम्यग् दर्शन प्राप्त होना चाहिए । सामान्य बोधिसत्त्वों से विशेष प्रकार की करुणा तथा अध्याशय से प्रेरित होकर तीन असंख्येय कल्प पर्यन्त सम्भार के सञ्चय में समय न गवाँ कर अतिशीघ्रता के साथ बुद्धत्व प्राप्त करने के अभिलाषी साधक परम गुह्य मन्त्र मार्ग के प्रति अवेत्य-प्रसाद (ज्ञानपूर्विका श्रद्धा) से युक्त होकर इस मार्ग के लिए उन्मुख होते हैं । ऐसे साधक सर्वप्रथम गुरुपञ्चाशिका आदि का अध्ययन करके लक्षणयुक्त गुरु की खोज करके उनसे तन्त्र का प्रवेश-द्वार अर्थात् अभिषेक प्राप्त करते हैं । अनुत्तरतन्त्र के अभिषेक के लिए अन्य तीन तन्त्रों के अवसर पर उल्लिखित विभिन्न प्रकार के मण्डलों के अतिरिक्त देहमण्डल, भगमण्डल, संवृतिबोधिचित्तमण्डल, परमार्थ-

बोधिचित्तमण्डल आदि विभिन्न मण्डल भी विभिन्न अभिषेकों के लिए होते हैं । कालचक्र तन्त्र के अतिरिक्त सभी अनुत्तर तन्त्रों में अभिषेक की संख्या चार में नियत है । कलश-अभिषेक, गुह्याभिषेक, प्रज्ञाज्ञानाभिषेक और शब्दाभिषेक (नामाभिषेक) या चतुर्थाभिषेक ये चार होते हैं ।

देवमण्डल की भिन्नता से कलशाभिषेक की संख्या में भिन्नता आ सकती है, परन्तु इनकी अधिकतम संख्या सामान्यरूप से ११ होती है । समस्त अनुत्तर तन्त्र के अभिषेक के लिए बोधिसत्त्वसंवर एवं मन्त्रसंवर की पूर्वगामिता अनिवार्य है । मन्त्रसंवर में ५ कुलों के सामान्य एवं विशेष 'समय' लेने होते हैं ।

भेद— अनुत्तर तन्त्र के दो प्रमुख भेद हैं— मातृतन्त्र एवं पितृतन्त्र । जिन तन्त्रों में सहज सुख द्वारा शून्यता का साक्षात्कार करने वाले परमार्थ प्रभास्वर मार्ग को प्रमुख अभ्यसनीय बनाया जाता है, उसे 'मातृतन्त्र' कहते हैं । तथा अतिसूक्ष्म पञ्च रश्मिवायु से उदित मायाकाय को प्रमुख रूप से अभ्यसनीय बनाने वाले तन्त्रों को 'पितृतन्त्र' कहते हैं । मातृतन्त्र एवं पितृतन्त्र को क्रमशः प्रज्ञातन्त्र एवं उपायतन्त्र भी कहते हैं । क्योंकि फलभूत बुद्धकाय के उपादानकारण पिता के बिन्दु के समान मायाकाय का प्रधानरूप से निर्देश करने के कारण वह 'पितृतन्त्र' है तथा प्रज्ञा-उपाय भेद में मायाकाय उपाय होने के कारण वह 'उपायतन्त्र' भी कहलाता है । प्रभास्वर एवं शून्यता-ज्ञान, जो परमार्थतः अद्वय हैं, वह (अद्वयीभाव) धर्मकाय का उपादान कारण होने के कारण माता के सदृश होता है, अतः उसे मुख्यरूप से निर्दिष्ट करने वाले तन्त्र को 'मातृतन्त्र' कहते हैं । वह प्रभास्वर प्रज्ञा-उपाय में से प्रज्ञा होने के कारण 'प्रज्ञातन्त्र' शब्द से भी व्यवहृत होता है ।

समस्त अनुत्तर तन्त्रों की साधना को पिण्डीकृत करने पर वे क्रमद्वययोग में समाविष्ट हो जाते हैं, यथा— प्रथमक्रम अथवा उत्पत्तिक्रम तथा द्वितीयक्रम अथवा निष्पन्नक्रम ।

उत्पत्तिक्रम

फल की अवस्था याने बुद्धत्व की अवस्था को मार्ग की अवस्था में ही मार्गीकृत करके साधना करना, क्लेशों को मार्ग का सहयोगी बनाना या मार्गीकृत करना तथा वज्रदेह को मर्माहत करके नाडी योग और वायु योग द्वारा सूक्ष्म चित्त

को सुख-स्वभाव में उत्पन्न करके शून्यता की भावना करना अनुत्तर तन्त्र का सार है ।

निष्पन्नक्रम की अवस्था में कुम्भक अथवा वज्रजाप आदि से चक्र-भेदन करना आदि जो मार्ग की साधना है, उसका पात्र बनने के लिए उत्पत्तिक्रम की स्थिति में ही वस्तुगत अवस्था के जन्म, मरण एवं अन्तराभव के सदृश मार्ग की भावना करना अनिवार्य होता है । इसके अतिरिक्त तन्त्र मार्ग का मुख्य प्रहेय साधारण (प्राकृत) आभास एवं अभिनिवेश होता है, जिसके प्रहाण के लिए जैसे एक साधारण शेक्ष्य पुद्‌गल मार्गक्रम का अभ्यास करता है और उसके द्वारा क्रमशः बुद्धत्व प्राप्त करता है, उसके सदृश स्वयं साधक का इष्टदेव के रूप में अपने को क्रमशः उत्पन्न करना और उत्पत्ति के पश्चात् इष्टदेव के अहं में स्थित होकर सत्त्वों के हितार्थ क्रिया करना, पूजा, अर्चना आदि ग्रहण या स्वीकार करना और देवता के अहं में रहते हुए मन्त्रजप की उपासना करना आदि उत्पत्तिक्रम के मार्ग में आते हैं ।

सामान्य मार्ग के द्वारा चित्त की सर्वप्रथम शुद्धि करके साधक लाक्षणिक वज्राचार्य से प्रामाणिक अभिषेक प्राप्त करता है । तत्पश्चात् समय एवं संवर का भलीप्रकार पालन करते हुए साधना स्थल पर स्थिर रूप से स्थित होकर उत्पत्तिक्रम में प्रवेश किया जाता है । सर्वप्रथम त्रिशरणगमन, बोधिचित्तोत्पाद, विशेष बोधिचित्तोत्पाद करके एकक्षण में अपने को इष्टदेव के रूप में उत्पन्न किया जाता है । तत्पश्चात् यथोत्पादित देव का धीरे-धीरे प्रभा में विलय करके उसे धीरे-धीरे शून्य में विलीन किया जाता है ।

विलय के क्रम में वस्तुगत अवस्था की मृत्यु के सदृश महाभूतों के क्रमशः विलीन होनें के बाह्य और आन्तरिक लक्षणों के उत्पन्न होने की भावना की जाती है । जब समस्त वस्तुओं का शून्य में विलय हो जाता है तो उस समय समस्त आभासों का अभाव (शून्य), तदाभासी चित्त द्वारा निःस्वभावता का ग्रहण, सुखवेदना के स्वभाव में समाहित होना— ये तीनों उस चित्त के गुण होते हैं । यह अवस्था मृत्यु के सदृश है ।

इस समाहित अवस्था से जब व्युत्थान होता है तो शून्यता से अद्वय (अभिन्न) धर्मकाय की प्राप्ति का अहं रखा जाता है । यह अवस्था मृत्यु के धर्मकाय के रूप में मार्गीकरण की अवस्था है ।

उस अहं से यह विचार उत्पन्न होता है कि शून्यतामय धर्मकाय में रहने से सत्त्वार्थ कुछ भी नहीं किया जा सकेगा, अत: रूपी काय के उत्पाद की आवश्यकता है । इस संकल्प के साथ शून्य में विलीन चित्त को बीजाक्षर अथवा आयुध एवं अलंकार के रूप में उत्पन्न किया जाता है । उस पर सम्भोगकाय की प्राप्ति का अहं रखा जाता है । इस अवस्था को अन्तराभव के सम्भोग काय के रूप में मार्गीकरण की अवस्था कहते हैं ।

इसमें कुछ देर स्थित रहने के बाद फिर विचार किया जाता है कि सम्भोग-काय में स्थित रहने पर भी आर्यबोधिसत्त्वों के अतिरिक्त जन साधारण का हितसाधन नहीं किया जा सकता । अत: हमें विभिन्न प्रकार के निर्माणकायों की प्राप्ति करनी चाहिए, इस विचार से प्रेरित होकर क्रमश: रक्षाचक्र, विमान और समस्त मण्डलों के साथ स्वयं का देवता के रूप में उत्पाद किया जाता है । उस उत्पादित देवता में निर्माणकाय की प्राप्ति का अहं रखा जाता है । यह अवस्था जन्म के निर्माणकाय के रूप में मार्गीकरण की अवस्था है ।

स्वयं को देव के रूप में उत्पन्न करना, समस्त रक्षाचक्र सहित विमान को उत्पन्न करना आदि फलावस्था की क्षेत्र परिशुद्धि, कायपरिशुद्धि का मार्गीकरण है । विमान-मण्डल में देवपरिवार की उत्पत्ति परिवार-परिशुद्धि का मार्गीकरण है । सभी देवमण्डलों की उत्पत्ति के पश्चात् स्वयं (अपने) से पूजा करने वाली देवियों को उत्पन्न कर उनसे देवमण्डल की पूजा कराई जाती है तथा बाह्य, आन्तरिक, गुह्य एवं तत्त्व पूजाओं का ग्रहण करके सहजसुख का उत्पाद किया जाता है । यह फलावस्था की उपभोग-परिशुद्धि का मार्गीकरण है । तत्पश्चात् मन्त्रचक्र की भावना के साथ मन्त्रजप किया जाता है तथा शान्ति, पुष्टि, वशिता, रौद्र आदि विभिन्न कर्मों के द्वारा सत्त्वों का हित सम्पन्न किया जाता है । यह फल-अवस्था की कर्मपरिशुद्धि का मार्गीकरण है ।

उत्पत्तिक्रम के समय देह को देवकाय के रूप में उत्पन्न करना, विभिन्न अंगों एवं इन्द्रियों पर देव या बीज अक्षरों का न्यास करना, निर्मित देवगण तथा प्रभा (रश्मि) का प्रस्फुरण एवं उपसंहरण करना आदि से नाडी, चक्र एवं शरीर के मर्मस्थलों का शोधन एवं परिपाक होने से निष्पन्नक्रम की योग्यता प्राप्त होती है ।

देवमण्डल एवं देवसमूह के अस्पष्ट आकारमात्र का स्पष्ट आभास होने पर एवं उसमें स्थिरता प्राप्त होने पर स्थूल उत्पत्तिक्रम में पारङ्गति प्राप्त होती है । मण्डल और देवसमूह की चक्षुष्-रेखा तक के समस्त सूक्ष्म आकारों का जब अत्यन्त स्पष्ट आभास होने लगता है और जब उसमें स्थिरता प्राप्त हो जाती है, तब सूक्ष्म उत्पत्तिक्रम में पारङ्गति मानी जाती है ।

निष्पन्नक्रम

समयी योगी अनुत्तरतन्त्र मार्ग में प्रविष्ट होकर इष्ट देवमण्डल योग के स्थूल एवं सूक्ष्म उत्पत्तिक्रम में पारंगत हो, मन्त्र, 'हूँ' -सहित उपासनाओं में पूर्ण हो, वज्रसत्त्व की भावना और जप करने के पश्चात् निष्पन्नक्रम में प्रवेश का अधिकारी हो जाता है ।

प्रारम्भ में काय की आभ्यन्तरिक रिक्तता, उसके मध्य में त्रिनाडी एवं चक्रों की भावना और नाडी-चक्रों के शोधन की प्रक्रिया आदि करना होता है । इसके बाद मौल निष्पन्नक्रम में प्रवेश किया जाता है ।

निष्पन्नक्रम को कायविवेक, वाग्विवेक, चित्तविवेक, मायाकाय, प्रभास्वर एवं युगनद्ध के छह क्रमों में (आर्यदेवकृत) चर्यासमुच्चयप्रदीप में तथा मूल गुह्यसमाजतन्त्र के षष्ठ अध्याय आदि में सुविभक्त किया गया है । पञ्चक्रम आदि में कायविवेक को चित्तविवेक के अन्तर्गत समाविष्ट करके पाँच क्रमों में विभाजित किया गया है । नागबोधि की व्यवस्थावलि में एवं प्रथम पटल की प्रदीपोद्योतन टीका में काय, वाक्, चित्तविवेकों को एक ही क्रम में समाविष्ट करके चार क्रम की भी व्यवस्था की गई है । परन्तु ये विभिन्न क्रमविभाजन मात्र देशना व्यवस्था की दृष्टि से हैं, साधना में न्यूनाधिक कुछ भी अन्तर नहीं होता ।

समाजोत्तर तन्त्र में निष्पन्नक्रम को षड्योगक्रम में भी विभक्त किया गया है, यथा— प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति, समाधि[१] । इस षडंग योग के प्रत्याहार एवं ध्यान दोनों कायविवेक के, धारणा प्रभास्वर के तथा अनुस्मृति एवं समाधि युगनद्ध के अन्तर्गत गृहीत होते हैं । कुम्भक में वायु धारण

---

१. प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा ।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ।।
द्र०-गुह्यसमाज १८ : १४०, पृ० १३२ तथा सेकोद्देशटीका, पृ० ३० ।

आदि के उपाय से समापत्ति-अवस्था में वायु के अवधूती में प्रवेश, स्थिति एवं विलीन होने का कार्य प्रारम्भ होता है, जिससे धातु का ज्वलन एवं स्रवण होने लगता है, इससे सहज सुख प्राप्त होता है और शून्यता में स्थिति होती है । जिसके बल से पृष्ठलब्ध अवस्था में समस्त भाजन एवं सत्त्वों के प्रति साधारण आभास एवं अभिनिवेश का अवरोध होता है तथा जो भी प्रतिभास होता है, वह सब सुख और शून्यता के स्वभाव में प्रतिभासित या प्रतीत होता है, इसे 'कायविवेक' कहा जाता है ।

इस साधना की निरन्तरता से हृदय की नाडी-ग्रन्थि किंचित् शिथिल होती है और उसमें वायु का प्रवेश, स्थिति एवं विलय की प्रक्रिया प्रारम्भ होने के कारण आलोक, आलोकाभास एवं आलोकोपलब्धि का अनुलोम-प्रतिलोम क्रम सम्पन्न होता है । इस प्रक्रिया में प्रतिलोम क्रम के आलोक का उदय होने पर 'वाग् विवेक' की अवस्था प्राप्त होती है ।

वाग्विवेक की अवस्था प्राप्त होने के पश्चात् वज्रजाप, प्राणायाम एवं कर्ममुद्रा के सेवन आदि के उपायों से व्यान वायु के अतिरिक्त समस्त मूल एवं अवयव वायुएं व्यान वायु के कुछ अंश सहित हृदयस्थित अविनाश्य बिन्दु में विलीन होते हैं एवं समस्त हृदयचक्र की नाडी-ग्रन्धियों का विमोचन हो जाता है । उससे उत्पन्न आलोक, आलोकाभास आदि का अनुलोम-प्रतिलोमक्रम में उदय होता है । प्रतिलोम के क्रम में आलोक का उदय होने पर 'चित्तविवेक' की अवस्था प्राप्त होती है ।

इसके अनन्तर आन्तरिक और बाह्य उपायों के साथ अनुभेद एवं पिण्डग्राह का अभ्यास करने से व्यान-सहित समस्त वायु का मृत्यु-अवस्था की भाँति हृदय में प्रवेश, स्थिति एवं विलय होने से आलोक से लेकर प्रभास्वर तक अनुलोम में उदय होता है और उसी प्रभास्वर की अवस्था में अतिसूक्ष्म (हृदयस्थ अविनाश्य) वायु के उपादान से स्थूल काय से पृथक् सूक्ष्म काय का उत्थान होता है । उसे 'मायाकाय' कहते हैं ।

मायाकाय में स्थित होकर सुखमय चित्त से शून्यता की निरन्तर भावना करने से निर्विकल्परूप से जब शून्यता का साक्षात्कार होता है तो 'प्रभास्वर' की अवस्था प्राप्त होती है ।

उस प्रभास्वर की समापत्ति से व्युत्थान होने पर महापुरुष-लक्षण एवं अनुव्यञ्जनों से युक्त मायाकाय एवं सुखमय प्रभास्वर की सन्तति के पृष्ठलब्ध ज्ञान— इन दोनों के युगनद्ध को 'शैक्ष्य युगनद्ध' कहते हैं । इस अवस्था में गुरु को गणपूजा से प्रसन्न करके अन्तिम अववाद प्राप्त कर साधक पुनः शून्यता में साक्षात् समापन्न होता है और तब उसे शैक्ष्यान्त प्रभास्वर प्राप्त होता है, जिससे समस्त ज्ञेय आवरणों का प्रहाण होने पर जब विमुक्ति मार्ग में प्रवेश होता है, तब 'अशैक्ष युगनद्ध' की स्थिति आती है, जो 'वज्रधर' का पद कहलाता है ।

भूमि-मार्ग व्यवस्था

अनुत्तरतन्त्र को छोड़कर अन्य तीनों तन्त्रों की भूमि-मार्ग-व्यवस्था पारमितायान की भूमिमार्ग-व्यवस्था से विशेष भिन्न नहीं हैं । यद्यपि तन्त्रों में भूमि या मार्ग का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, तथापि पारमितायान में प्रचलित एवं आवरणों के प्रहाण के क्रम से स्थापित मार्ग और भूमि की व्यवस्था के अनुसार तन्त्र में भी उनकी सामान्य व्यवस्था की जा सकती है । इस प्रकार की व्यवस्था में क्रियातन्त्र में किसी भी क्रियातन्त्र के मण्डल में अभिषेक प्राप्त करके मार्ग-प्रवेश से लेकर शब्दान्त ध्यानभावना से शून्यता-बोध की विपश्यना प्राप्त होने तक क्रियातन्त्र का 'सम्भारमार्ग' माना जा सकता है । शून्यताबोध की विपश्यना प्राप्ति से लेकर शून्यता के साक्षात्कार तक 'प्रयोगमार्ग' की अवस्था, शून्यता के साक्षात्कार से लेकर भावना मार्ग के अधिमात्र-अधिमात्र प्रहेय क्लेश के साक्षात् प्रतिपक्ष के उत्पाद तक 'दर्शनमार्ग', अधिमात्र-अधिमात्र प्रहेय क्लेशों के साक्षात् प्रतिपक्ष के उत्पाद से लेकर बुद्धत्व प्राप्ति के अव्यवहित पूर्व तक 'भावना मार्ग' तथा उसके अनन्तर 'अशैक्षमार्ग' की अवस्था आती है ।

उसी प्रकार दर्शनमार्ग में प्रथमभूमि, मृदु-मृदु भावनामार्ग में द्वितीयभूमि, मृदु-मध्य में तृतीय भूमि, मृदु-अधिमात्र में चतुर्थ भूमि, उसी तरह मध्यमृदु, मध्यमध्य एवं मध्य-अधिमात्र में पञ्चम, षष्ठ एवं सप्तम भूमि, इसके बाद अधिमात्र-मृदु, अधिमात्रमध्य एवं अधिमात्र-अधिमात्र के एक साथ प्रहाण करने वाले भावनामार्ग की अवस्था में आठवीं भूमि, स्थूल ज्ञेयावरण के प्रतिपक्ष के साथ नौवी भूमि, सूक्ष्म ज्ञेयावरण के प्रतिपक्ष के साथ दशम भूमि की व्यवस्था की जा सकती है ।

चर्यातन्त्र और योगतन्त्र में भी कोई विशेष भिन्नता नहीं है । अभिषेक प्राप्ति से लेकर अनिमित्त योग की भावना से शून्यता-बोध की विपश्यना प्राप्ति तक 'सम्भार मार्ग' तथा इससे ऊपर की सारी भूमि-मार्ग की व्यवस्था में क्रियातन्त्र में उल्लिखित व्यवस्था से कोई फर्क नहीं है, अपितु समान ही है । इन तीनों तन्त्रों में अधिकांश आचार्य बुद्धत्व की प्राप्ति अकनिष्ठ क्षेत्र में मानते हैं ।

अनुत्तर तन्त्र में अभिषेक प्राप्ति से लेकर निष्पन्न-क्रम के प्रथम अधिगम तक 'सम्भार मार्ग', निष्पन्न क्रम के प्रथम अधिगम से लेकर उपमेय प्रभास्वर की प्राप्ति तक 'प्रयोग मार्ग' उपमेय प्रभास्वर से लेकर शैक्ष्य युगनद्ध अवस्था की प्राप्ति तक 'दर्शन मार्ग' शैक्ष्य युगनद्ध की अवस्था से लेकर शैक्ष्यान्त प्रभास्वर की प्राप्ति तक 'भावनामार्ग' तथा शैक्ष्यान्त प्रभास्वर के पश्चात् 'अशैक्ष मार्ग' की अवस्था होती है ।

अनुत्तरतन्त्रयान का मुख्य प्रहेय साधारण आभास एवं अभिनिवेश है । साधारण अभिनिवेश क्लेशावरण एवं साधारण आभास ज्ञेयावरण है । समस्त क्लेशावरण चतुर्थ क्रम के उपमेय प्रभास्वर की अवस्था में युगपद् प्रहीण हो जाते हैं । समस्त ज्ञेयावरण शैक्ष्यान्त उपमेय प्रभास्वर से युगपत् प्रहीण होते हैं । इसलिए प्रहेयों के प्रहाणक्रम अर्थात् मृदु-मध्य-अधिमात्र आदि भावना मार्ग क्रम के आधार पर मार्गों तथा १० भूमियों की व्यवस्था पूर्वोक्त पारमितायान की तरह नहीं होती, फिर भी प्रभास्वर ज्ञान को ज्ञेय आवरण के प्रहायक प्रतिपक्ष योग्य बनाने के लिए जो पुण्यसम्भार की अथवा उपायपक्ष की आवश्यकता होती है, उसकी वृद्धि के क्रम से १० भूमि अथवा ९ भावना मार्ग के क्रम की व्यवस्था की जा सकती है । ज्ञेय आवरणों का एकसाथ प्रहाण कर बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए अकनिष्ठ क्षेत्र की अनिवार्यता भी नहीं होती ।

अनुत्तर तन्त्र-यान की दृष्टि से मात्र पारमितायान के मार्गों से तथा अन्य तन्त्रयान के मात्र मार्गों से बुद्धत्व प्राप्त नहीं हो सकता । पारमितायान के मार्ग से चरमभविक अवस्था तक पहुँचा हुआ भी साधक अन्ततोगत्वा अनुत्तर तन्त्र मार्ग में प्रवेश करके ही बुद्धत्व प्राप्त करता है । इस कारण प्रारम्भिक पृथग्जन अवस्था से सीधे तन्त्र मार्ग में प्रविष्ट साधकों की और पारमितायान के मार्गों की पूर्वगामिता वाले साधकों की मार्ग एवं भूमि के क्रम में कुछ भी भिन्नता नहीं होती । पारमितायान पूर्वगामी साधकों को प्रहेय की दृष्टि से मात्र सूक्ष्मतम ज्ञेयावरण का

प्रहाण करना होता है, परन्तु उपाय पक्ष की पूर्णता के लिए चतुर्थ क्रम के उपमेय प्रभास्वर से लेकर निष्पन्न-क्रम की साधना करनी होती है । तन्त्रों में पारमितायान में प्रचलित भूमि-व्यवस्थाओं से हटकर विशेष प्रकार की भूमि व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है । जिसमें दश भूमि से लेकर १६ भूमियों तक की चर्चा है[१] । परन्तु ये भूमियाँ पारमितायान की भूमियों के समकक्ष नहीं कही जा सकतीं ।

गुह्यसमाज तन्त्र की परम्परा

असंख्य अनुत्तर तन्त्रों में से गुह्यसमाज तन्त्र एक विशेष तन्त्र है, क्योंकि इस तन्त्र में अनुत्तरतन्त्रों के मूल अभिधेय 'मायाकाय' एवं 'प्रभास्वर' के विस्तृत अर्थ का सुस्पष्ट, सुगम एवं संक्षेप रूप से प्रतिपादन किया गया है । मायाकाय के प्रतिपादन पर विशेष बल देने के कारण यह पितृतन्त्र एवं उपायतन्त्र माना गया है । आचार्य नागार्जुन से लेकर सभी पारम्परिक आचार्यों ने इस तन्त्र को बुद्धवचन के रूप में माना है । इसलिए परम्परावादी आचार्य इस तन्त्र के काल के बारे में विचार ही नहीं करते । अतः यहाँ पर भी इस विषय की चर्चा नहीं की जा रही है ।

इस तन्त्र-परिवार में चार या तीन प्रकार के तन्त्र माने गए हैं, यथा— १. मूलतन्त्र, २. उत्तरतन्त्र, ३. व्याख्यातन्त्र और ४. समनुकूल तन्त्र ।

मूलतन्त्र सप्तदश पटलों में पूरा होता है तथा उसके अठारहवें पटल को उत्तरतन्त्र के रूप में टीकाकारों ने मान्यता दी है ।

गुह्यसमाज के व्याख्या तन्त्र में नागार्जुन एवं आर्यदेव ने स्पष्ट रूप से पाँच तन्त्रों का उल्लेख किया है, यथा— १. चतुर्देवीपरिपृच्छा, २. सन्धि-व्याकरण, ३. वज्रमाला, ४. ज्ञानवज्रसमुच्चय एवं ५. देवेन्द्र-परिपृच्छा ।

नागार्जुन एवं आर्यदेव ने उत्तरतन्त्र का व्याख्या-तन्त्र के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया है, फिर भी आचार्य स्थगन एवं जिनदत्त ने उसे व्याख्यातन्त्र माना है और यह उचित भी प्रतीत होता है ।

---

१. द्र०-वज्रगर्भालङ्कारतन्त्र, हेवज्रतन्त्र, उत्तराभिधानतन्त्र, वज्रमालाभाष्यतन्त्र तथा ज्ञानतिलक तन्त्र आदि ।

समनुकूलतन्त्र में वज्रगर्भालङ्कार, मायाजाल आदि तन्त्र माने जाते हैं ।

वज्रावलि के टीकाकार का कहना है कि मूलतन्त्र के दो प्रारूप थे, यथा— (१) बृहत् तथा (२) लघु । बृहत्-तन्त्र का परिमाण २५००० श्लोकात्मक था, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है । वर्तमान में जो मूलतन्त्र उपलब्ध है, वह लघु-मूलतन्त्र है ।

उपर्युक्त तन्त्रों में से देवेन्द्रपरिपृच्छा का भोटानुवाद उपलब्ध नहीं है । शेष भोटभाषा में अनूदित हैं और उपलब्ध हैं । संस्कृत में मात्र मूलतन्त्र एवं उत्तरतन्त्र ही उपलब्ध है, जो मिथिला-विद्यापीठ एवं गायकवाड संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हैं । शेष तन्त्र अभी तक मूल संस्कृत में उपलब्ध नहीं हो पाए हैं ।

गुह्यसमाज की परिभाषा

सर्व तथागतों के काय, वाक, चित्त के समस्त गुह्य अर्थात् वज्रयान के समस्त गुह्य मर्म इस तन्त्र में समाविष्ट हैं, इस कारण से 'गुह्यसमाज' कहते हैं[१] ।

टीकाग्रन्थ

गुह्यसमाज की टीकाओं में परम्परागत दृष्टि से सबसे प्राचीन टीका पद्मवज्रपाद (श्रीनाथमहासुख) द्वारा रचित गुह्यसिद्धि मानी जाती है । इसमें मुख्य रूप से तन्त्र के निदान का विवेचन किया गया है । यह ग्रन्थ सप्तसिद्धि के शेष छह ग्रन्थों का मूल माना जाता है । सरहपाद द्वारा गुह्यसमाज पर कोई स्वतन्त्र टीका नहीं लिखी गई है, फिर भी उनके दोहे गुह्यसमाज तन्त्र के अर्थ को जानने में अत्यधिक उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण हैं । गुह्यसिद्धि संस्कृत में उपलब्ध है और केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ द्वारा सन् १९८७ में 'गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह' के अन्तर्गत उसका प्रकाशन भी हुआ है ।

आर्यपरम्परा

गुह्यसमाज की विस्तृत एवं प्रामाणिक टीका आचार्य नागार्जुन द्वारा रचित 'पञ्चक्रम' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ ही है । उनकी परम्परा को 'आर्यपरम्परा' कहा

---

१. त्रिविधं कायवाक्चित्तं गुह्यमित्यभिधीयते ।
समाजं मीलनं प्रोक्तं सर्वबुद्धाभिधानकम् ।।
(द्र०-गुह्यसमाजतन्त्र, १८;२४) ।

जाता है । इस परम्परा के अन्तर्गत आचार्य भव्यकीर्ति ने 'प्रदीपोद्योतन' की 'अभिसन्धिप्रकाशिका' नामक व्याख्या का प्रणयन किया है । उसमें नागार्जुन द्वारा रचित ग्रन्थों की सूची में पिण्डीक्रमसाधन, सूत्रमेलापकसाधना, हूँ- कार-साधना, पञ्चक्रम और गुह्यसमाजमूलतन्त्रटीका का उल्लेख है । परन्तु आचार्य नागार्जुन की गुह्यसमाजमूलतन्त्रटीका उपलब्ध नहीं है । नागार्जुन के नाम से अनेक और ग्रन्थ भी दिखलाई पड़ते हैं, किन्तु वे सभी यथार्थ रूप में नागार्जुन द्वारा प्रणीत हैं कि नहीं ? इस पर विद्वानों को विचार करना चाहिए ।

नागार्जुन के प्रामाणिक ग्रन्थों में उत्पत्तिक्रम के लिए पिण्डीक्रमसाधन तथा सूत्रमेलापकसाधना है तथा निष्पन्नक्रम के लिए पञ्चक्रम एवं बोधिचित्त-विवरण हैं । इन चारों को प्रामाणिक वाङ्मय के रूप में अधिकांश भारतीय विद्वानों ने मान्यता दी है । इनके भोट-अनुवाद भी उपलब्ध हैं । इनके अतिरिक्त चतुर्मुद्राक्रम भी आचार्य नागार्जुन की कृति है— ऐसा आचार्य मैत्रेयपाद एवं उनके अनुयायियों ने माना है, परन्तु 'उपदेशमञ्जरी' में अभयाकर गुप्त ने इस मत का खण्डन किया है । गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा से मूल संस्कृत में 'अद्वयवज्रसंग्रह' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, जिसमें आचार्य अद्वयवज्र के छोटे-बड़े २१ ग्रन्थ संगृहीत हैं । इसमें एक ग्रन्थ 'चतुर्मुद्रा' है । कुछ विद्वानों की राय में यह आचार्य नागार्जुन की रचना है, जिसका नाम 'चतुर्मुद्राक्रम' या 'चतुर्मुद्रोपदेश' है । यदि यह नागार्जुन की रचना है तो मूल संस्कृत में उपलब्ध है ।

आर्य नागार्जुन के प्रमुख शिष्य आर्यदेव ने नागार्जुन के ग्रन्थ पञ्चक्रम की चर्यामेलापकप्रदीप एवं स्वाधिष्ठानक्रमभेद नामक अर्थप्रधान टीकाएँ की हैं ।

आचार्य नागबोधि ने उत्पत्तिक्रम का प्रधान रूप से तथा निष्पन्नक्रम का सामान्यरूप से प्रतिपादन करते हुए समाजसाधनव्यवस्थाक्रम, कर्मान्तविभङ्ग एवं गुह्यसमाजमण्डलविंशतिविधि नामक ग्रन्थों की रचना की है ।

आचार्य शाक्यमित्र ने आचार्य नागार्जुन के पञ्चक्रम के द्वितीयक्रम में कुछ पद्यों की रचना कर उसमें जोड़ दिये हैं ।

आचार्य चन्द्रकीर्ति ने गुह्यसमाज मूलतन्त्र पर प्रदीपोद्योतन नामक सुप्रसिद्ध टीका की रचना की है । यह ग्रन्थ संस्कृत में उपलब्ध है और काशीप्रसाद जायसवाल-अनुशीलनसंस्था, पटना द्वारा सन् १९८४ में इसका प्रकाशन हुआ है । तथा वज्रसत्त्वसाधना नामक एक दूसरा ग्रन्थ भी उन्होंने लिखा है ।

उपर्युक्त पाँच आचार्य नागार्जुन परिवार या कुल के 'पाँच आचार्य' कहे जाते हैं । सभी भारतीय आचार्यों ने आर्यदेव, नागबोधि एवं शाक्यमित्र तीनों को निर्विवाद रूप से आचार्य नागार्जुन के साक्षात् शिष्य के रूप में मान्यता दी है, किन्तु आचार्य चन्द्रकीर्ति के साक्षात् शिष्य होने में विवाद है, फिर भी परमसिद्ध लक्ष्मीङ्करा के शिष्य पण्डित कुमार ने प्रदीपोद्योतन के कुछ श्लोकों का उद्धरण देते हुए आचार्य चन्द्रकीर्ति को भी नागार्जुन का साक्षात् शिष्य माना है ।

इन पाँचों आचार्यों की रचनाओं को प्रामाणिक मानते हुए अनेक विद्वानों ने इस परम्परा के अन्तर्गत टीका, टिप्पणी, साधना, पिण्डार्थ आदि नाम से अनेक रचनाएं की हैं ।

नारोपा, अभयाकर गुप्त, करुणाश्री, लक्ष्मीङ्करा, मुनिश्रीभद्र, भव्यकीर्ति, कुमार, कुलधर, तथागतरक्षित, लीलावज्र, अलङ्कदेव आदि इस परम्परा के प्रमुख आचार्य हैं ।

ज्ञानपाद परम्परा

आचार्य ललितवज्र ने यद्यपि मूल तन्त्र के निदानमात्र की टीका लिखी है, फिर भी उन्होंने क्रमद्वय के ऊपर किसी व्याख्या की रचना नहीं की है । इसलिए उनकी कोई पृथक् परम्परा नहीं है, परन्तु उनके शिष्य बुद्धज्ञानपाद ने मञ्जुश्री (द्विक्रमतत्त्वभावना नाम) - मुखागम नामक टीका लिखी है । वह टीका आगे चलकर ज्ञानपाद परम्परा के नाम से प्रसिद्ध हुई । यह परम्परा उपर्युक्त आर्यपरम्परा से कुछ भिन्नताएं भी रखती है । आचार्य बुद्धज्ञानपाद ने मञ्जुश्री-मुखागम के अतिरिक्त निष्पन्नक्रम पर मुक्तितिलक नामक ग्रन्थ भी लिखा है ।

आचार्य आनन्दगर्भ, आचार्य विमलगुप्त, आचार्य शान्तिपाद आदि ने इस परम्परा के अन्तर्गत अनेक टीका, टिप्पणी, पिण्डार्थ आदि की रचना की है । ये रचनाएं ज्ञानपाद-परम्परा की निकटवर्ती हैं ।

गुह्यसमाज की प्रचलित परम्पराओं में आर्य नागार्जुन द्वारा प्रवर्तित आर्यपरम्परा तथा उसके बाद बुद्धज्ञानपाद की परम्परा ही प्रमुख हैं ।

नागार्जुन परम्परा में अक्षोभ्यवज्रप्रधान बत्तीस देवपरिवार मण्डल होता है तथा साधना में योग, अनुयोग आदि षडङ्ग योग द्वारा उत्पत्तिक्रम की तथा पञ्चक्रम द्वारा निष्पन्नक्रम की व्यवस्था की जाती है ।

ज्ञानपादपरम्परा में मञ्जुश्रीप्रमुख उन्नीस देवपरिवार मण्डल होता है तथा निष्पन्नक्रम में प्राणायाम, धारणा आदि चार अङ्गों की और उत्पत्तिक्रम में प्रत्याहार एवं ध्यान इन अङ्गों की व्यवस्था है ।

इन दोनों परम्पराओं का भोटदेश में आचार्य दीपङ्कर श्रीज्ञान, रत्नभद्र, नारोपा के साक्षात् शिष्य मरपा छोस् क्यि लोडुस्, गोस लोचावा, छक् लोचावा आदि ने अनुवाद एवं प्रचार-प्रसार किया । आगे चलकर आचार्य बुदोन, साक्य पण्डित, आचार्य चोंखापा आदि ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया ।

प्रस्तुत ग्रन्थ

अनुत्तरयोगतन्त्र के मार्ग से बुद्धत्व प्राप्त करने के लिए क्रमद्वययोगसाधना अनिवार्य है । आचार्य नागार्जुन ने प्रस्तुत ग्रन्थ में गुह्यसमाज मूल एवं अन्य तन्त्रों में बिखरी हुई तथा अक्रमिक रूप से उपदिष्ट सामग्री को संकलित कर उसे साधना की दृष्टि से संक्षिप्त, स्पष्ट एवं क्रमबद्ध रूप प्रदान किया । उन्होंने उत्पत्तिक्रम का प्रतिपादन करने के लिए पिण्डीक्रमसाधन अथवा पिण्डीक्रम तथा निष्पन्नक्रम का निरूपण करने के लिए पञ्चक्रम की रचना की ।

पिण्डीक्रमसाधन— उत्पत्तिक्रम साधना वह साधना है, जिसमें साधक निष्पन्नक्रम की साधना के लिए अपने-आप को पात्र बनाता है । इस उत्पत्तिक्रम में तीन बातें प्रमुख रूप से प्रतिपाद्य हैं, यथा— (क) परिशोध्य वस्तु, (ख) मार्गीकरण एवं (ग) देवमण्डल का उत्पाद और देवताहंकार ।

(क) परिशोध्यवस्तु— परिशोध्य वस्तु तीन हैं- जन्म, मरण एवं अन्तराभव । इनका शोधन करने के लिए साधक भाजनसहित अपने स्थूल शरीर को आलम्बन बनाकर मृत्युक्रम के अनुरूप उपसंहार की भावना कर उसे शून्य में

विलीन करता है तथा उस शून्य के आकार में धर्मकाय का अहंकार करता है । इसे मृत्यु में धर्मकाय का मार्गीकरण करना कहते हैं । तदनन्तर उस शून्य से अन्तराभव के सदृश आसन, बीज और उपकरण की उत्पत्ति की भावना की जाती है और उसमें सम्भोगकाय का अहंकार किया जाता है । इसे अन्तराभव में सम्भोगकाय का मार्गीकरण करना कहते हैं । तत्पश्चात् उन बीज एवं उपकरणों को क्रमशः देवरूप में उत्पन्न किया जाता है और समस्त देवमण्डल की उत्पत्ति की भावना की जाती है तथा उसमें निर्माणकाय का अहंकार किया जाता है । इसे जन्म में निर्माणकाय का मार्गीकरण करना कहते हैं ।

तत्पश्चात् देवमण्डल में देवों का स्फुरण, जगत्कल्याण और उपसंहरण की भावना की जाती है, जिससे साधक की देह का शोधन एवं पुण्यसम्भार का संचय होता है । पूजा, जप, स्तुति आदि भी इसके अंग होते हैं । इन सब बातों का पिण्डीक्रमसाधन में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है ।

इसके अतिरिक्त नागार्जुन ने उत्पत्तिक्रम की साधना के लिए सूत्रमेलापक की भी रचना की है, किन्तु यह ग्रन्थ मूल संस्कृत में अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है । भोटभाषा में इसका अनुवाद उपलब्ध है ।

पञ्चक्रम

निष्पन्नक्रम का सम्यक् प्रतिपादन करने के लिए नागार्जुन ने पञ्चक्रम की रचना की है । निष्पन्नक्रम को मूलतन्त्र में षट् क्रम के रूप में भी निर्दिष्ट किया गया है तथा अन्यत्र टीकाओं में चतुष्क्रम का भी उल्लेख है, परन्तु संख्याभेद के अतिरिक्त इसमें अर्थभेद बिलकुल नहीं है । अशैक्ष युगनद्धत्व या बुद्धत्व ही साधक का एकमात्र लक्ष्य है, जिसे प्राप्त करने के लिए उपमेय प्रभास्वर एवं विशुद्ध मायाकाय का योग, जो शैक्ष युगनद्धत्व कहलाता है, उसकी अनिवार्यता है । उसी शैक्ष युगनद्धत्व को प्राप्त करने के लिए मायाकाय का प्राप्त होना अनिवार्य है । विशुद्ध मायाकाय को प्राप्त करने के लिए उपमेय प्रभास्वर का उत्पन्न होना आवश्यक है । उपमेय प्रभास्वर प्राप्त करने के लिए या तो तीन असंख्येय कल्पपर्यन्त सम्भारद्वय का संचय हो या उसके तुल्यबल तृतीय क्रम का मायाकाय, जिसे अविशुद्ध मायाकाय भी कहते हैं, को उत्पन्न करना आवश्यक होता है । उस प्रकार के (अविशुद्ध) मायाकाय को प्राप्त करने के लिए

चित्तविवेक प्राप्त होना चाहिए । चित्तविवेक के लिए वाग्विवेक या वज्रजप या प्राणायाम का क्रम आवश्यक है । इस क्रम से पञ्चक्रम में प्रत्येक क्रम का सुस्पष्ट एवं विस्तृत प्रतिपादन किया गया है ।

१. वज्रजापक्रम— यह पञ्चक्रम का प्रथम क्रम है । आचार्य मुनिश्रीभद्र आदि कुछ टीकाकारों ने पिण्डीक्रम को नागार्जुनकृत पञ्चक्रम का प्रथम क्रम माना है और अनुत्तरसन्धि को शाक्यमित्र की रचना मानकर उसे पञ्चक्रम के अन्तर्गत नहीं माना है । परन्तु अधिकांश अन्य आचार्यों ने इस मत को न्यायसङ्गत नहीं माना है । प्राचीन पाण्डुलिपियों में पिण्डीक्रम प्रथम-क्रम के नाम से उल्लिखित नहीं है । इतना ही नहीं, वज्रजप के प्रारम्भ में पञ्चक्रम का नामकरण होता है । वज्रजप के विषय का प्रतिपादन करते हुए उसमें पाँचों क्रमों की कायिक व्यवस्था उपलब्ध होती है । वज्रजाप क्रम के प्रारम्भ में क्रमद्वय का निश्चित क्रम और निष्पन्न क्रम के पाँचों क्रमों का नियत क्रम दर्शाया गया है । तत्पश्चात् आगे आने वाले सभी निष्पन्न क्रमों की साधना के लिए आवश्यक देह (काय), नाडी, वायु (प्राण), बिन्दु की विस्तृत व्याख्या की गई है, जो आगे के पाँचों क्रमों के लिए सामान्य हैं । उसके बाद वज्रजप-साधना का निर्देश किया गया है, जो निष्पन्न क्रम की पञ्चक्रम-व्यवस्था में प्रथम क्रम है ।

उत्पत्तिक्रम में दृढ़ता प्राप्त करने के अनन्तर निष्पन्नक्रम की साधना में प्रवेश वाग्विवेक या वज्रजाप से होता है । इसमें हृदय में बिन्दु की भावना करके वायु का बहिर्निश्चारण, प्रवेश एवं स्थिति को अक्षरत्रय की ध्वनि के स्वभाव में भावना करके वज्रजाप करने का विधि-विधान बताया गया है । इसके फलस्वरूप हृदयचक्र की नाडीग्रन्थियाँ शिथिल होती हैं तथा वायु का प्रवेश, स्थिति एवं विलय की सम्भावना बलवती होती है । जिसके फलस्वरूप चण्डाली प्रज्वलित होती है तथा धातु का गलन होता है । इससे सुख उत्पन्न होता है और मृत्यु के क्रम के सदृश महाभूतों के क्रमशः विलय के लक्षणों का आभास, आलोक, आलोकाभास एवं आलोकोपलब्धि, प्रभास्वर क्रमशः उदित होते हैं । इनकी विलोम अवस्था में ओलोकोपलब्धि, आलोकाभास एवं आलोक उदित होते हैं । इस स्थिति में वज्रजाप क्रम की पराकाष्ठा होती है । इन सबका सविस्तर साधनाक्रम इस क्रम में दर्शाया गया है ।

२. अनुत्तरसन्धिक्रम— इस क्रम के अन्त में शाक्यमित्र का नाम होने के कारण इस प्रकरण के आचार्य नागार्जुन की रचना होने में कुछ टीकाकारों ने सन्देह प्रकट किया है । अभयाकर गुप्त, परहितरक्षितपाद, समयवज्र एवं मुनिश्रीभद्र ने इसे शाक्यमित्र की रचना माना है और पिण्डीक्रमसाधन को प्रथम क्रम के रूप में स्वीकार किया है[१] । लक्ष्मींकरा की टीका में दो मत प्रस्तुत किये गये हैं, यथा— १. शाक्यमित्र नागार्जुन का ही उपसम्पदा का नाम है तथा २. आचार्य नागार्जुन ने ही अपने द्वारा रचित इस क्रम को वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर अपने प्रिय शिष्य शाक्यमित्र के नाम के साथ सम्बद्ध कर दिया है । इन दोनों में लक्ष्मींकरा प्रथम मत की पक्षधर हैं । आचार्य चोंखापा जी ने वज्रजप के प्रारम्भ में पाँचों क्रमों का संक्षिप्त निरूपण होने तथा पाँचवें क्रम के अन्त में परिणामना होने के कारण यह 'पञ्चक्रम' नामक पूरा ग्रन्थ नागार्जुन द्वारा रचित है तथा वे पाँचों क्रम एक ही ग्रन्थ के पाँच प्रकरण हैं— ऐसा माना है । इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा है कि द्वितीय प्रकरण के ''ज्ञानिनो भवपञ्जरात्'' (४७-ए-बी) तक का अंश स्वयं आचार्य की रचना है तथा उसके आगे का शेष भाग शाक्यमित्र की कृति है । अपि च, इस क्रम का 'अनुत्तरसन्धि' यह नामकरण नागार्जुन द्वारा किया हुआ है तथा 'सर्वशुद्धिविशुद्धिक्रम' यह आचार्य शाक्यमित्र द्वारा प्रदत्त नाम है । क्योंकि आर्यदेवकृत 'चर्यासमुच्चयप्रदीप' (भावार्थ टीका) में द्वितीयक्रम के आचार्यकृत भाग से उद्धरण देते समय मात्र 'अनुत्तर-सन्धि' इस नाम का ही उल्लेख किया गया है ।

इस क्रम के आचार्य नागार्जुनरचित अंश में चित्तविवेक साधना का स्वरूप प्रदर्शित किया गया है । वज्रजप साधना द्वारा वाग्विवेक निष्पन्नक्रम सम्पन्न होने के अनन्तर व्यानवायु पर अवलम्बित वज्रजप एवं मुद्रा की सहायता से प्राणायाम करने के फलस्वरूप हृदयस्थ नाडी-ग्रन्थियाँ पूर्णतया खुल जाती हैं तथा वायु के कुछ अंश हृदय की अवधूती में प्रविष्ट, स्थित एवं विलीन हो जाते हैं । इससे चाण्डाली का प्रज्वलन होता है, धातु का गलन होता है तथा महासुख की अनुभूति होती है ।

---

१. द्र०-आचार्यशाक्यमित्रस्त्वात्मनो बाहुश्रुत्यं प्रकटयन् प्रकृतिप्रभेदप्रकाशम् अनुत्तरसन्धिनामकं ग्रन्थं कृत्वा आर्ये पञ्चक्रमे प्रक्षिप्तवानिति लक्ष्यते । तस्माद् आत्मनो बाहुश्रुत्यं प्रकटयता शाक्यमित्रेण तदिह प्रक्षिप्तमिति निश्चितमेतदित्यलमिह निर्बन्धेन, प्रकृतमेव ब्रूमः ।
द्र०-पञ्चक्रम के अभिसम्बोधिक्रम की परहितरक्षितपाद कृत टिप्पणी ।

तदनन्तर आलोक, आलोकाभास, आलोकोपलब्धि, प्रभास्वर क्रमशः उदित होते हैं । इसके विलोम में जब आलोक ज्ञान उदित होता है, तब चित्तविवेक की निष्पन्न अवस्था मानी जाती है । इस अवस्था में इस प्रकरण में ज्ञान अथवा कर्म मुद्रा के सेवन एवं विभिन्न उपसंहार की भावनाओं से शेष चक्रों की नाडी-ग्रन्थियों के खुलने की साधना सविस्तर बतलाई गई है ।

शाक्यमित्र रचित अंश में यद्यपि चित्तविवेक की कुछ बातें हैं, फिर भी इसके अतिरिक्त प्रभास्वर एवं युगनद्ध के क्रमों में प्रतिपाद्य विषयों का भी उल्लेख मिलता है । इस कारण भी यह अंश आचार्य नागार्जुन द्वारा रचित नहीं है— इसका आभास मिलता है । अन्यथा पुनरुक्ति होने का दोष होता है ।

३. स्वाधिष्ठानक्रम— इस क्रम में मायाकाय की साधना का प्रतिपादन किया गया है । चित्तविवेक की साधना में पराकाष्ठा-प्राप्त होने पर व्यानसहित समस्त वायु हृदय में प्रविष्ट, स्थित एवं विलीन हो जाती हैं । इसके फलस्वरूप हृदय की सम्पूर्ण नाडी-ग्रन्थियाँ शिथिल हो जाती हैं और उस समय मृत्यु क्रम में होने वाले मरीचि लक्षण से लेकर प्रभास्वर तक के सभी लक्षण लाक्षणिक रूप से उत्पन्न होते हैं । इस स्थिति के प्रभास्वर को 'उपमा-प्रभास्वर' कहते हैं । इस प्रभास्वर के उत्थान होने पर प्राण या वायु का किञ्चिद् स्पन्दन होता है और उस समय अतिसूक्ष्म पञ्चरश्मि वायु के उपादान से प्रतिरूपक ३२ महापुरुष लक्षण एवं ८० अनुव्यञ्जनों से युक्त मायाकाय उदित होता है, जिसे 'अविशुद्ध मायाकाय' कहते हैं । इस मायाकाय के निमित्त से साधक सप्रपञ्च, निष्प्रपञ्च एवं अतिनिष्प्रपञ्च चर्याओं में संलग्न हो जाता है ।

४. अभिसम्बोधिक्रम— इस क्रम में प्रभास्वर की साधना का विस्तृत व्याख्यान किया गया है । अविशुद्ध मायाकाय में स्थित साधक विविध चर्याओं में अपनी संलग्नता, मुद्रा के सेवन और पिण्डग्राह तथा अनुभेद का उपसंहार और पुनः-पुनः भावना करते हुए शून्यताभावना का अभ्यास करता है । जब वह (साधक) शून्यता का साक्षात्कार (प्रतिवेध) कर लेता है तथा उसको 'उपमेय प्रभास्वर' प्राप्त हो जाता है, तब साधक आर्यपुद्गल हो जाता है तथा उसे समस्त क्लेशावरण को प्रहाण करने में समर्थ प्रतिपक्ष प्राप्त हो जाता है ।

५. युगनद्धक्रम— इस क्रम में शैक्ष युगनद्ध की साधना एवं अशैक्ष युगनद्ध का स्वरूप विस्तारपूर्वक बतलाया गया है । उपमेय प्रभास्वर से उत्थान

होने पर विशुद्ध मायाकाय उपलब्ध होता है । इस अवस्था में मायाकाय और प्रभास्वर अभिन्न रूप से युगनद्ध की स्थिति में हो जाते हैं । परन्तु अभी ज्ञेय आवरणों का प्रहाण न होने के कारण अशैक्ष युगनद्धत्व या बुद्धत्व प्राप्त नहीं होता है । उसके बाद शैक्ष युगनद्धता की स्थिति में ही निरन्तर शून्यता में समाहित रहने से समस्त ज्ञेयावरण युगपत् प्रहीण हो जाते हैं । मायाकाय सम्भोगकाय के रूप में तथा प्रभास्वर धर्मकाय के रूप में परिणत हो जाते हैं । इसके फलस्वरूप साधक काय-चित्त-युगनद्ध अशैक्ष वज्रधर के पद को प्राप्त करता है ।

सम्पादक

विषयानुक्रमः

●

श्रीमद्गुह्यसमाजतन्त्रराजवरे

आचार्यनागार्जुनप्रणीतः

पिण्डीक्रमः पञ्चक्रमश्च

प्रज्ञाकरुणयोरैक्यं ज्ञात्वा यत्र प्रवर्तते ।
युगनद्ध इति ख्यातः क्रमोऽयं बुद्धगोचरः ।।

(पञ्चक्रमः, ५:७)

आचार्यनागार्जुनप्रणीतः

पिण्डीक्रमः

नमः सर्वज्ञाय

त्रैलोक्याचारमुक्तं गगनसमगतं सर्वभावस्वभावम्,
शुद्धं शान्तं विविक्तं परमशिवमयं योगिनामेव गम्यम् ।
दुर्बोधं दुर्विचारं स्वपरहिततमं व्यापिनं निर्निमित्तम्,
वन्दे कायं जिनानां सुखमसमसमं निर्विकल्पैकमूर्तिम् ॥ १॥

श्रीमत्समाजतन्त्रस्य षट्कोट्यर्थावबोधतः ।
पिण्डीक्रममहं वक्ष्ये सर्वसत्त्वहितोदयम् ॥ २॥

विकल्पवासनादोषान् जगत्त्रयविमोहकान् ।
समभिवीक्ष्य तान् धीमान् योगतन्त्रेण शोधयेत् ॥ ३॥

पञ्च कामान् परित्यज्य तपोभिर्न च पीडयेत् ।
सुखेन धारयेद् वोधिं योगतन्त्रानुसारतः ॥ ४॥

तेनेह संवरस्थोऽयमभेदस्तु सदा व्रती ।
कायवाक्चित्तवज्रस्य साधनं तु समारभेत् ॥ ५॥

महाटवीप्रदेशेषु[१] फलपुष्पाद्यलङ्कृते ।
पर्वते विजने साध्यं सर्वसिद्धिसमुच्चयम्[२] ॥ ६॥

मृद्वासनसमासीनः[३] सत्त्वपर्यङ्कसंस्थितः ।
द्वेषवज्रसमाधिस्थः स्थानरक्षां विचिन्तयेत् ॥ ७॥

---

१. ग-घ पुस्तके हाटवीप्रदेशेषु-इत्यतः प्रारभ्येते ।
२. ०समुच्चयन्- ख ।
३. श्रद्धा०- ख ।

दशक्रोधान् समुत्सृज्य ज्वालाभासुरभीषणान् ।
हूंकारोद्भूतभानुस्थान् प्रत्यालीढपदे[१] स्थितान्[१] ॥ ८॥

दशदिग्मण्डलाग्रे तु सञ्चिन्त्यैवं यथाक्रमम् ।
सर्वविघ्नविनाशार्थं सुम्भमाज्ञाय कीलयेत् ॥ ९॥

ओं सुम्भ[२] निसुम्भ[२] हूं गृह्ण गृह्ण हूं गृह्णापय गृह्णापय हूं आनय हो भगवन् विद्याराज हूं[३] फट् ।

अनेन क्रोधरूपेण आकृष्यैवं विनायकान् ।
कीलयेद् विधिवत् सर्वान् प्रयोगेण तु बुद्धिमान् ॥ १०॥

वज्रामृतमहाराजं वज्रकीलं विभावयेत् ।
नीलोत्पलदलश्यामं ज्वालामालाकुलप्रभम् ॥ ११॥

नाभिदेशादधोभागं शूलाकारं विभावयेत् ।
ऊर्ध्वं क्रोधाकृतिं चैव त्रिमुखाकारषड्भुजम् ॥ १२॥

अधो विघ्नगणान् वीक्ष्य[४] तान्[५] मन्त्रं समुदाहरन् ।
निखनेत् वज्रकीलं तु विघ्नदेहेषु निश्चलम् ॥ १३॥

१-१. ०पदस्थितान्-ग, घ ।
२-२. सुम्भनिसुम्भे-ग, घ; ०निशुम्भ-क ।
३. हूं हूं-ग, घ ।
४. वीक्ष्यं-ग, घ ।
५. तन्०-ग, घ ।

ओं घ घ घातय[1] घातय[1] सर्वदुष्टान् फट्[2] फट्[2] कीलय कीलय सर्वपापान् फट्[2] फट्[2] हूं[3] हूं हूं[3] वज्रकील वज्रधर[4] आज्ञापयति सर्वविघ्नानां[5] कायवाक्चित्तवज्रं[6] कीलय हूं[7] हूं हूं[7] फट्[8] ।

वज्रमुद्गरहस्तं च सुम्भराजं विभावयेत् ।
वज्रवह्निं समन्ताच्च विस्फरन्तं[9] विचिन्त्य वै ।
दुष्टान् प्रलपितांश्चिन्तेद्[10] दह्यमानानितस्ततः ।। १४ ।।

दशदिक् कीलयित्वा तु अध ऊर्ध्वमधिष्य[11] च ।
भावयेत् परमार्थेन निःस्वभावभवत्रयम्[12] ।। १५ ।।

अभावे[13] भावनाभावो[13] भावना नैव भावना ।
इति भावो न भावः स्याद् भावना[14] नोपलभ्यते ।। १६ ।।

अनया गाथया शून्यं ध्यात्वा स्थिरचरात्मकम् ।
अनेन विधियोगेन ज्ञानभूमिरधिष्यते[15] ।। १७ ।।

आकाशधातुमध्यस्थं भावयेद् वायुमण्डलम् ।
द्वि-हूं यं बीजनिष्पन्नं वज्रद्वयसमायुतम् ।। १८ ।।

१-१. घाटय-क, घ; घात्तय घात्तय-ग ।
२-२. फट्-क, ख (सकृद्वारम्) ।
३-३. हूं हूं-क. ख ।
४. वज्रधरो-ग, घ ।
५. 'ङ'-पुस्तकं-नां काय०-इत्यतः प्रारभ्यते ।
६. कायवाक्चित्तं-क, ख, ङ ।
७-७. हूं-क, ख, ङ ।
८. फट् फट्-भो० ।
९. विस्फुरन्तं-ग, घ ।
१०. प्रलापितान्-च; प्रलापिताश्चि०-ख, ङ ।
११. ०मधिष्ठ्य-ख, ङ; ०मधेष्ठ्य-ग; ०मध्येष्ठ्य-घ ।
१२. निस्वभावं भवत्रयम्-ग, घ ।
१३-१३. अभावभावना०-क, ख, ङ ।
१४. भावनो-ख, ङ ।
१५. ०मधिष्ठ्यते-ख, ङ; ०मधेष्ठ्य०-ग; ०मध्येष्ठ्य-घ ।

अग्निमण्डलकं चापि तस्योपरि विभावयेत् ।
द्वि-हूं रं बीजनिष्पन्नं वज्रद्वयसमाङ्कितम् ।। १९ ।।

वारिमण्डलकं चापि तस्योपरि विभावयेत् ।
द्वि-हूं वं बीजनिष्पन्नं वज्रद्वयसमायुतम् ।। २० ।।

पृथ्वीमण्डलकं चापि तस्योपरि विभावयेत् ।
द्वि-हूं लं बीजनिष्पन्नं वज्रद्वयसमन्वितम् ।। २१ ।।

चतुर्मण्डलसंहारे[१] [१]वज्रभूभागमण्डलम् ।
तत्र भ्रूंकारनिष्पन्नं कूटागारं विभावयेत् ।। २२ ।।

चतुरस्रं चतुर्द्वारं चतुस्तोरणशोभितम् ।
चतुःसूत्रसमायुक्तमष्टस्तम्भोपशोभितम् ।। २३ ।।

हारार्द्धहाररचितं मणिवज्रार्धचन्द्रकम्[२] ।
खचितं वज्ररत्नैस्तु द्वारनिर्यूहसन्धिषु ।। २४ ।।

कुम्भस्तम्भमहावज्रं क्रमशीर्षस्तु[३] पक्षिणी[४] ।
घण्टापताकसंशोभं चामरादिविभूषितम् ।। २५ ।।

मध्यमण्डलके ध्यायादात्मानं मुद्रया युतम् ।
त्रिमुखं षड्भुजाकारमिन्द्रनीलसमप्रभम् ।। २६ ।।

श्रीवैरोचन-रत्नौ च अमिताभश्च कर्मराट् ।
पूर्वादिदिक्षु सञ्चिन्त्यास्त्रिमुखाकारषड्भुजाः ।। २७ ।।

१-१. ०संहारवज्र०-ग, घ ।
२. मणिचन्द्रा०-ग, घ ।
३. क्रय०-क ।
४. यक्षिणी-क ।

मोहरत्यादिका देव्यस्त्रिमुखाकारषड्भुजाः ।
आग्नेयीं दिशामारभ्य सन्निवेश्या यथाक्रमम् ॥ २८ ॥

रूपवज्रादिकास्तद्वद् बाह्यकोणचतुष्टये[१] ।
स्थितैव स्पर्शवज्रा तु वज्रसत्त्वसमायुता ॥ २९ ॥

पट्टिकायां न्यसेत् पूर्वे मैत्रेयं क्षितिगर्भकम् ।
वज्रपाणिं खगर्भं च न्यसेद् दक्षिणतो व्रती ॥ ३० ॥

लोकेशं[२] मञ्जुघोषं[२] च पश्चिमायां न्यसेत् पुनः ।
सर्वावरणविष्कम्भिं समन्तभद्रश्चोत्तरे[३] ॥ ३१ ॥

यमान्तकश्च[४] प्राग्द्वारे दक्षिणे त्वपराजितः ।
पश्चिमे तु हयग्रीव उत्तरेऽमृतकुण्डलिः ॥ ३२ ॥

अचलष्टक्किराजश्च नीलदण्डो[५] महाबलः ।
पूर्वादिकोणमारभ्य प्रविचिन्त्या[६] यथायथम् ॥ ३३ ॥

[७]सुम्भराजमहाक्रोधमधस्तात् प्रविचिन्तयेत् ।
उष्णीषचक्रवर्ती च प्रविचिन्त्यस्तथोपरि ॥ ३४ ॥

ध्यात्वैवमधिमुक्त्या वै माण्डलेयान्[८] यथाविधि ।
पुनः सम्पुटयोगेन स्वकाये तान् प्रवेशयेत् ॥ ३५ ॥

---

१. बाह्यकोणे-चतु०-ग, घ ।
२-२. लोकेश्वरमञ्जु०-ग, घ ।
३. समताभद्रमुत्तरे-क ।
४. यमन्तकश्च-ग; यमान्तकस्तु-भो० ।
५. ०दण्डौ-ख ।
६. प्रविचिन्त्यो-ख, ग, घ, ङ ।
७. सुम्भराजं महा०-ग, घ ।
८. मण्डलेयान्-ग, घ ।

कायचक्रगतान् बुद्धान् सञ्चिन्त्यैवं यथायथम् ।
पारमार्थिकचक्रेण तथतायां प्रवेशयेत् ।। ३६ ।।

मारयेत् त्वागतं[१] व्यूहं सुतरां सिद्धिमाप्नुयात्[२] ।
अस्यार्थो **वज्रमालायां** विस्तृतो[३] विस्फुटं यथा ।। ३७ ।।

रूपस्कन्धगतादर्शो भूधातुर्नयनेन्द्रियम् ।
रूपं च[४] पञ्चमं[५] याति क्रोधमैत्रेयसंयुतम्[६] ।। ३८ ।।

वेदना स्कन्धसमता अब्धातुः श्रवणेन्द्रियम् ।
शब्दश्च पञ्चमं याति क्रोधद्वयसमन्वितम् ।। ३९ ।।

संज्ञा च प्रत्यवैक्षण्यं[७] हुतभुग् नासिकेन्द्रियम्[८] ।
गन्धश्च पञ्चमं याति क्रोधद्वयसमन्वितम् ।। ४० ।।

संस्कारः कृत्यानुष्टानं मारुतो रसनेन्द्रियम् ।
रसश्च पञ्चमं याति क्रोधद्वयसमन्वितम् ।। ४१ ।।

ऊर्ध्वाधः[९] क्रोधसंयुक्तं प्रकृत्याभासमेव[१०] च ।
विज्ञानस्कन्धमायाति विज्ञानं च प्रभास्वरम् ।। ४२ ।।

निर्वाणं[११] सर्वशून्यं[११] च धर्मकायश्च गद्यते ।
दृढीकरणहेतुत्वान् मन्त्रमेतदुदाहरेत् ।। ४३ ।।

---

१. तथागतं-भो०, ग, घ; तागतं-ख, ङ ।
२. विधिमाप्नु०-क ।
३. विवृतो-ग, घ; विष्टतो-ख, ङ ।
४. नास्ति 'च'-क ।
५. पञ्चविधं-भो० (सर्वत्र) ।
६. क्रोधद्वयसमन्वितम्-भो० ।
७. प्रत्यवेक्षणा-ग, घ ।
८. रसेन्द्रियम्-क ।
९. ऊर्ध्वातः-ग, घ ।
१०. ०ष०-ग, घ ।
११-११. सनिर्वाणं सर्वशून्यं च-क, घ, ङ ।

ओं शून्यताज्ञानवज्रस्वभावात्मकोऽहम् ।

परमार्थमण्डलं ह्येतन्निराभासमलक्षणम् ।
परमार्थसत्यनामापि सर्वताथागतालयः[१] ॥ ४४॥

प्रभास्वरप्रविष्टस्य व्युत्थानं च प्रदर्श्यते ।
मन्त्रमूर्तिप्रयोगेण देवतालम्बनं प्रति ॥ ४५॥

आकाशधातुमध्यस्थं भावयेत् सूर्यमण्डलम् ।
तस्योपरि पुनर्मन्त्री चन्द्रबिम्बं विभावयेत् ॥ ४६॥

तत्र चाष्टदलं[२] पद्मं[२] रक्तवर्णं विभावयेत् ।
पद्मोपरि महामन्त्रं[३] त्र्यक्षरं भावयेत् पुनः[४] ॥ ४७॥

मन्त्रं पद्मं तथा सूर्यं प्रविष्टं चन्द्रमण्डले ।
चन्द्रमण्डलमापूर्णं बोधिचित्तं विभावयेत् ॥ ४८॥

स्थावरं जङ्गमं सर्वं[५] तत्रैव प्रविचिन्तयेत् ।
दृढीकरणहेतुत्वान्मन्त्रमेतदुदाहरेत् ॥ ४९॥

ओं धर्मधातुस्वभावात्मकोऽहम् ।

योगमेवं समालम्ब्य अनुयोगं समाचरेत्[६] ।
पुनश्च त्र्यक्षरं योगी चन्द्रमध्ये विचिन्तयेत् ॥ ५०॥

ततस्त्र्यक्षरसम्भूतं सितकुन्देन्दुसन्निभम् ।
आदिनाथं विचिन्त्याथ[७] अतियोगं समारभेत् ॥ ५१॥

---

१. सर्वतथागतालयः-क; सर्वतथागतालयम्-ग, घ ।
२-२. ०दलपद्मं-ग ।
३. महामन्त्री-क,ख,ङ ।
४. पुरः-घ ।
५. सर्वे-घ ।
६. समारभेत्-ग, घ ।
७. विचिन्त्योऽथ-ख, ङ ।

अक्षोभ्यानुप्रवेशेन त्रिमुखं षड्भुजोज्ज्वलम् ।
इन्द्रनीलप्रभं[१] दीप्तं वज्रसत्त्वं विभावयेत् ।।५२।।

वज्रं चक्रं तथा पद्मं सव्यहस्तेषु भावयेत् ।
घण्टां रत्नं तथा खड्गं वामहस्तेषु भावयेत् ।।५३।।

ततो न्यासं प्रकुर्वीत स्कन्धादीनां विभागवित् ।
वैरोचनादिसुम्भान्तं बीजन्यासेन तत्त्वतः ।।५४।।

वैरोचनीयबीजं तु ओंकारं शुक्लवर्णकम् ।
रूपस्कन्धस्वभावेन न्यसेन् मूर्धनि[२] मन्त्रवित् ।।५५।।

आःकारममिताभस्य[३] संज्ञास्कन्धस्वभावकम् ।
रक्तवर्णं मुखे ध्यात्वा वागैश्वर्यमवाप्नुयात् ।।५६।।

अक्षोभ्यस्य तु हूकारं राजावर्तकसुप्रभम्[४] ।
विन्यसेद्धृदये[५] मन्त्री विज्ञानस्कन्धरूपतः ।।५७।।

स्वाकारं रत्ननाथस्य वेदनास्कन्धरूपतः ।
पीतवर्णं न्यसेन्नाभौ वेदनाशुद्धिहेतुकम् ।।५८।।

पादद्वये तु हाःकारं संस्कारस्कन्धभावतः[६] ।
हरिताभं न्यसेन्मन्त्री कर्मनाथस्य तत्त्वतः ।।५९।।

मोहरत्यादिकैर्मन्त्री पृथिव्यादीन् प्रवेशयेत् ।
खरत्वं द्रवता औष्ण्यमीरणत्वं[७] च ते क्रमात् ।।६०।।

---

१. इन्द्रनीलसमं-ग, घ, भो० ।
२. मूर्ध्नी-क ।
३. अमिताभनाथस्य-भो० ।
४. राजवर्तक०-ख, ङ ।
५. न्यसेद्०-ग, घ ।
६. ०भावयेत्-घ ।
७. चोषणा०-ग, घ ।

थ्लींकारं[१] चक्षुषि न्यस्य क्षितिगर्भं विभावयेत् ।
ओंकारं कर्णयोर्न्यस्य वज्रपाणिं विभावयेत् ॥ ६१ ॥

ओंकारं विन्यसेद् घ्राणे खगर्भं तु[२] विभावयेत् ।
ओंकारं रसने ध्यात्वा लोकेशं च[३] विकल्पयेत्[३] ॥ ६२ ॥

हूंकारं मनसि ध्यात्वा मञ्जुघोषं प्रभावयेत् ।
ओंकारं[४] सर्वकाये[४] च ध्यात्वा विष्कम्भिणं स्मरेत् ॥ ६३ ॥

मैं-कारेण शिरःसंस्थं[५] मैत्रेयं परिकल्पयेत् ।
भद्रं समन्ततो ध्यात्वा सर्वसन्धिषु सन्न्यसेत् ॥ ६४ ॥

यमान्तकः[६] सव्यभुजे अपसव्येऽपराजितः ।
हयग्रीवो मुखे भाव्यो वज्रे[७] चामृतकुण्डलिः ॥ ६५ ॥

अचलं दक्षिणे भागे वामे च टक्किराजकम्[८] ।
जानौ च दक्षिणे चिन्तेन्नीलदण्डं महोज्ज्वलम् ॥ ६६ ॥

वामजानौ महाबलं मूर्ध्नि चोष्णीषवज्रिणम्[९] ।
पादान्तद्वयविन्यस्तं सुम्भराजं विचिन्तयेत् ॥ ६७ ॥

न्यासं कृत्वा ततो मन्त्री स्कन्धादीनां यथाविधि ।
कायमण्डलमापन्नो[१०] महायोगं समारभेत् ॥ ६८ ॥

---

१. क्षिंकारं-ग; क्षंकारं-घ ।
२. च-ग, घ ।
३-३. चापि कल्प०-ग, घ ।
४-४. हूंकारं सर्वकार्ये-क; हूंकारं सर्वकाये-ख, ङ ।
५. शिरासंस्थं-ख ।
६. यमन्तकः-ग ।
७. वक्त्रे-क, ख, ङ ।
८. टक्विराजकम्-क, ख,ङ ।
९. उष्णीषचक्रिणम्-भो० ।
१०. कायमण्डलसमापन्नो-ग, घ ।

मूर्ध्नि मध्यगतं चिन्तेत् सम्पूर्णं चन्द्रमण्डलम् ।
तत्र ओंकारं शुक्लाभं प्रस्फुरत्[१]-पञ्चरश्मिकम् ।। ६९ ।।

ततो देवीं विनिश्चार्य आधिपत्यप्रयोगतः[२] ।
लोचनां[३] विविधां[४] चिन्तेत् सर्वव्योम्नि[५] प्रपूरिताम्[५] ।। ७० ।।

कायवज्रं विचिन्त्याथ व्योमापूर्य व्यवस्थितम् ।
तन्मध्येऽ[६]धिपतिं[७] चिन्तेदात्मनश्च पुरःस्थितम् ।। ७१ ।।

द्वात्रिंशल्लक्षणधरं व्यञ्जनाशीतिभूषितम् ।
प्रार्थयेत् तु ततो मन्त्री गाथाद्वयमुदाहरन्[८] ।। ७२ ।।

बुद्धकायधरः श्रीमांस्त्रिवज्राभेद्यभावितः ।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य करोतु[९] कायवज्रिणः ।। ७३ ।।

दशदिक्संस्थिता[१०] बुद्धास्त्रिवज्राभेद्यभाविताः[११] ।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य कुर्वन्तु कायवज्रिणः ।। ७४ ।।

लोचनासहसंयुक्तं शाश्वतं[१२] च विभावयेत्[१२] ।
तत्प्रवेश्याधितिष्ठेत पञ्चस्कन्धप्रपूरितम्[१३] ।। ७५ ।।

---

१. प्रस्फुरं-ग, घ ।
२. अधिपत्य०-क ।
३. लोचना-ग, घ ।
४. विविधं-क ।
५-५. ०प्रपूरितम्-क; सर्वव्योमप्रपू०-ग, घ ।
६. तत्र मध्ये-ग, घ ।
७. अधिपं-ग, घ ।
८. ०मुदाहरेत्-ग, घ ।
९. कुर्वन्त्वितिशुद्धः पाठः प्रतिभाति ।
१०. ०संस्थितं-ख, ङ ।
११. ०भावितः-क ।
१२-१२. वैरोचनं विभावयेत्-भो० ।
१३. कायाधिष्ठितमारभेत्-भो० ।

यत्कायं सर्वबुद्धानां पञ्चस्कन्धप्रपूरितम् ।
बुद्धकायस्वभावेन ममापि तादृशं भवेत् ।। ७६ ।।

ओं सर्वतथागतकायवज्रस्वभावात्मकोऽहम् ।

जिह्वाब्जमध्यगतं[१] चिन्तेद् आःकारं रक्तवर्णकम्[२] ।
पाण्डराख्यां[३] च सगणां[४] संस्फरेत् व्योमपूरिताम् ।। ७७ ।।

वाग्वज्रं च तथा मन्त्री व्योमापूर्य[५] व्यवस्थितम्[६] ।
प्रार्थयेत् तु ततो मन्त्री गाथाद्वयमुदाहरन् ।। ७८ ।।

धर्मो वै वाक्पथः श्रीमांस्त्रिवज्राभेद्यभावितः[७] ।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य करोतु[८] वाग्वज्रिणः ।। ७९ ।।

दशदिक्संस्थिता बुद्धास्त्रिवज्राभेद्यभाविताः ।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य[९] कुर्वन्तु वाग्वज्रिणः[९] ।। ८० ।।

स्वनायकेन संयुक्तां[१०] पाण्डरां[११] सहसैव तु ।
जिह्वाप्रविष्टां सञ्चिन्त्य वागधिष्ठानमारभेत् ।। ८१ ।।

यदेव वज्रधर्मस्य[१२] वाचा निरुक्तिसम्पदा ।
ममापि तादृशी वाचा भवेद् धर्मधरोपमा ।। ८२ ।।

---

१. नास्ति-भो० ।
२. रक्तवर्णकाम्-ग, घ ।
३. पाण्डुराख्यां-घ ।
४. सगणा-ग, घ; नास्ति-भो० ।
५. व्यामापूर्ये-ख; व्योमापूर्ये-ग; व्योममध्ये-भो० ।
६. व्यवस्थिताम्-घ ।
७. ०भावतः-ग, घ ।
८. कुर्वन्त्विति शुद्धः पाठः प्रतिभाति ।
९-९. तस्य कुर्वन्तु वाक्यपथोद्भवम्-गुह्यसमाजे मूलतन्त्रे; ०कुर्वन्ति०-ग, घ ।
१०. संयुक्तं-ग, घ ।
११. पाण्डुरां-घ ।
१२. वज्रधरमस्य-क ।

ओं सर्वतथागतवाग्वज्रस्वभावात्मकोऽहम् ।

विन्यस्य हृदये मन्त्री शशिबिम्बं[१] समुज्ज्वलम् ।
राजावर्तनिभं तत्र हूंकारं पञ्चरश्मिकम् ॥ ८३॥

ततो निश्चारयेद् देवीं मामकीं सगणां ततः ।
चित्तवज्रं तथा ध्यात्वा प्रार्थयेत यथा पुरः ॥ ८४॥

चित्तवज्रधरः श्रीमांस्त्रिवज्राभेद्यभावितः ।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य करोतु[२] चित्तवज्रिणः ॥ ८५॥

दशदिक्संस्थिता बुद्धास्त्रिवज्राभेद्यभाविताः ।
अधिष्ठानपदं मेऽद्य कुर्वन्तु चित्तवज्रिणः[३] ॥ ८६॥

चित्तवज्रसमायुक्तं हृदये सम्प्रवेश्य[४] च[४] ।
मामकीव्यूहमखिलं चित्ताधिष्ठानमारभेत् ॥ ८७॥

यच्चित्तं समन्तभद्रस्य गुह्यकेन्द्रस्य धीमतः ।
ममापि तादृशं चित्तं भवेद् वज्रधरोपमम् ॥ ८८॥

ओं सर्वतथागतचित्तवज्रस्वभावात्मकोऽहम् ।

एवं पृथगधिष्ठाय कुलत्रयविभागतः ।
पुनः सर्वात्मकं कुर्यान्मन्त्रेणानेन बुद्धिमान् ॥ ८९॥

ओं सर्वतथागतकायवाक्चित्तवज्रस्वभावात्मकोऽहम् ।

---

१. सूर्यबिम्बं–भो० ।
२. कुर्वन्तु–मूलतन्त्रे गुह्यसमाजे ।
३. चित्तसम्भवाः–मूलतन्त्रे गुह्यसमाजे ।
४–४. सम्प्रवेशयेत्–घ ।

अधिष्ठायैवमात्मानं शशिमण्डलमध्यगम् ।
षड्भिश्चिह्नैः समायुक्तं चिन्तेत् समयसत्त्वकम् ॥ ९० ॥

हृन्मध्यसंस्थितं सूक्ष्मं ज्ञानसत्त्वं विभावयेत् ।
समाधिसत्त्वसंज्ञं च हूंकारं तद्दृढी[१] न्यसेत् ॥ ९१ ॥

निष्पाद्यैवं महायोगं त्रिसत्त्वात्मकमात्मवान् ।
अनेन विधियोगेन महासाधनमारभेत्[२] ॥ ९२ ॥

प्राप्य कन्यां विशालाक्षीं रूपयौवनमण्डिताम् ।
नीलोत्पलदलश्यामां रजकस्य महात्मनः ॥ ९३ ॥

सुशिक्षितां समादाय साधके भक्तिवत्सलाम् ।
ओंकारं शिरसि ध्यात्वा आःकारं[३] वाक्पथे न्यसेत् ॥ ९४ ॥

हूंकारं हृदये ध्यात्वा स्वा नाभौ हा द्विपादयोः ।
लोचनां मामकीं चापि तथा पाण्डरवासिनीम्[४] ॥ ९५ ॥

तारां चापि तथा मन्त्री पृथिव्यादिषु सन्न्यसेत् ।
रूपवज्रादिका देवीस्तस्यामेव विभावयेत् ॥ ९६ ॥

क्षितिगर्भादिभिस्तासां समापत्तिं विभावयेत् ।
दक्षिणे वज्रवेतालीं भुजे वामेऽपराजिताम् ॥ ९७ ॥

भृकुटिं च मुखे तस्या एकजटां[५] च गुह्यके ।
भूयो दक्षिणपार्श्वस्थां विश्ववज्रीं तथागतीम् ॥ ९८ ॥

---

१. ०दृढि- ख ।
२. मुद्रासाधन०-ग; महामुद्रा०-घ ।
३. त्माकारं-ख, ङ; हंकारं-क ।
४. पाण्डुर०-घ ।
५. एकजटीं-ग, घ ।

विश्वरत्नां च वामे तु मुद्रायाः प्रविभावयेत् ।
पुनर्दक्षिणजानुस्थां विश्वपद्मां तथागतीम् ।। ९९ ।।

विश्वकर्मां च वामे तु मूर्ध्नि गगनवज्रिणीम्[१] ।
पादान्तद्वयविन्यस्तां धरणीन्धरदेवतीम्[२] ।। १०० ।।

एवं संस्कृत्य[३] तां[३] योगी वज्रपद्ममथारभेत्[४] ।
मन्त्री हूंकारजं वज्रं ध्यायाद् वै[५] पञ्चसूचिकम् ।। १०१ ।।

मध्यसूचौ[६] तथा तस्य प्रणवं च विभावयेत् ।
तथैवाष्टदलं[७] पद्मम्[७] आःकारेण[८] तु भावयेत् ।
पञ्चरश्मिसमाकीर्णं ततः साधनमारभेत् ।। १०२ ।।

ओं सर्वतथागतानुरागणवज्रस्वभावात्मकोऽहम्[९] ।

हूंकारगीतेन तु चालयेत
समुद्वहन् वज्रधरस्य गर्वम्[१०] ।
स्वबोधिचित्तोदयकाल एव[११]
फट्कारमन्त्रं[१२] समुदीरयेत् सः ।। १०३ ।।

विसर्गान्ते पुनर्मन्त्री बोधिचित्तेन पूजयेत् ।
दशदिक्संस्थितान् बुद्धान् मन्त्रमेतदुदीरयेत् ।। १०४ ।।

---

१. ०वज्रिणी-क; वज्रिणाम्-ग, घ ।
२. ०देवती-क, ख, ङ ।
३-३. सम्भूत्यत्रा-घ ।
४. वज्रपद्मं समारभेत्-ग, घ ।
५. वैः-क ।
६. मध्यसूचं-क ।
७-७. अष्टदलपद्मं-ग, घ ।
८. आकारेण-ग, घ, भो० ।
९. ०रागेण०-घ ।
१०. गर्भम्-क ।
११. एवं-ग, घ ।
१२. फङ्कार०-ख, ङ ।

ओं सर्वतथागतपूजावज्रस्वभावात्मकोऽहम् ।

स्वमन्त्राक्षरनिष्पन्नं त्रिवज्राधिष्ठितस्वकम् ।
पद्ममध्ये तु निष्पाद्य द्वेषवज्रो[१] भवेत् पुनः ॥ १०५॥

वज्रधृग्-मन्त्रनिष्पन्नं पश्येदक्षोभ्यवज्रिणम् ।
जटामुकुटधरं नाथम् अक्षोभ्यकृतशेखरम् ॥ १०६॥

नृपावर्तकसङ्काशं[२] कृष्णरक्तसिताननम् ।
सर्वालङ्कारसम्पूर्णं षड्भुजं[३] तु विभावयेत् ॥ १०७॥

वज्रं[४] चक्रं[४] तथा पद्मं सव्यहस्तेषु धारयेत्[५] ।
घण्टां चिन्तामणिं खड्गं[६] तस्य वामेषु भावयेत् ॥ १०८॥

निष्क्रम्य हृदयादेष व्यवलोक्य दिशो दश ।
बुद्धर्द्धिमखिलां[७] कृत्वा धर्मचक्रं प्रवर्त्य च ॥ १०९॥

संशोध्य निखिलान् सत्त्वान् द्वेषवज्रपदे स्थितान् ।
आगत्य वज्रनाथस्य पुरतोऽभिनिषीदति ॥ ११०॥

अनुप्रवेश्य[८] तन्मन्त्री[८] हृद्यात्मानं[९] विभावयेत् ।
पूर्वरूपं परावृत्त्य द्वेषवज्रपदे स्थितः ॥ १११॥

इन्द्रनीलप्रभं दीप्तं सूर्यमण्डलमध्यगम् ।
स्वमुद्रालिङ्गितं वीरं सर्वालङ्कारभूषितम् ॥ ११२॥

---

१. द्वेषवज्रा-ख ।
२. नृपवर्तक०-क, ख, ङ ।
३. षड्भुजां-ग, घ ।
४-४. वज्रचक्रं-ग ।
५. भावयेत्-ग, घ ।
६. खड्गं-ख, ङ ।
७. बुद्धर्द्धिं निखिलां-ग, घ; बुद्धकृत्यमखिलं-भो० ।
८-८. अनुप्रवेश्यैनं मन्त्री-क, ख, ङ ।
९. हृदयात्मानं-क ।

रौद्रशान्तमहारागं मुखत्रयविराजितम् ।
द्वेषवज्रसमाधिस्थः प्रोत्सृजेत् सर्वमण्डलम् ।। ११३ ।।

जिनजिग्-मन्त्रनिष्पन्नं सृजेद्[1] वैरोचनं विभुम्[1] ।
शरच्चन्द्रांशुसङ्काशं जटामुकुटमण्डितम्[2] ।। ११४ ।।

सितरक्तकृष्णवदनं षड्भुजं शान्तरूपिणम्[3] ।
चक्रवज्रसिताम्भोजं[4] दक्षिणेषु विचिन्तयेत् ।। ११५ ।।

घण्टां चिन्तामणिं खड्गं वामेष्वस्य विभावयेत् ।
हृदयात् तथैव निर्गत्य मोहचर्यास्थिताः प्रजाः ।। ११६ ।।

संशोध्य पुनरागत्य पुनश्चक्रे[5] निषीदति ।
रत्नधृग्-मन्त्रनिष्पन्नं रत्नकेतुं सृजेद् बुधः ।। ११७ ।।

जटाजूटधरं सौम्यमक्षोभ्यकृतशेखरम् ।
पीतकृष्णसितास्यं[6] च षड्भुजं चापि चिन्तयेत् ।। ११८ ।।

तस्य चिन्तामणिं वज्रं चक्रं सव्येषु भावयेत् ।
घण्टां च पीतकमलं खड्गं वामेषु भावयेत् ।। ११९ ।।

हृदयात् तथैव निर्गत्य अहङ्कारपदे स्थितान् ।
संशोध्य दक्षिणे भागे रत्नमध्ये निषीदति ।। १२० ।।

आरोलिग्-मन्त्रनिष्पन्नं[7] सृजेदमितवज्रिणम् ।
पद्मरागप्रभं सौम्यमक्षोभ्यकृतशेखरम् ।। १२१ ।।

१-१. अक्षोभ्यमुकुटायितम्-भो० ।
२. ०मकुटमण्डिताम्-ग, घ ।
३. ०रूपिणाम्-ग, घ ।
४. ०सिताभ्भोजाम्-ग, घ ।
५. ०चन्द्रे-ग, घ; पूर्वदिक्चक्रे-भो० ।
६. जटामुकुटधरं नाथं-इत्यधिकोऽत्र भोटपाठः (पेकिंग-संस्करणम्) ।
७. ०मन्त्रान्निष्पन्ना-ग, घ ।

जटामुकुटधरं[१] नाथं रक्तकृष्णसिताननम् ।
शृङ्गाररससंयुक्तं षड्भुजं तु विभावयेत् ।।१२२।।

पद्मनालं गृहीत्वा तु वामेन सह घण्टया ।
हृत्प्रदेशस्थितं पद्मं दक्षिणेन विकाशयेत्[२] ।।१२३।।

सव्ययोर्वज्रचक्रे तु वामयोः रत्नखड्गकौ ।
पूर्ववद् रागिणः शोध्य पृष्ठतोऽब्जे निषीदति ।।१२४।।

अमोघवज्रिणं मन्त्री प्रज्ञाधृग्-मन्त्रनिर्मितम् ।
हरिताभं सृजेन्नाथं जटामुकुटमण्डितम्[३] ।।१२५।।

हरितकृष्णसितास्यं च षड्भुजं रश्मिभासुरम्[४] ।
खड्गं च विश्ववज्रं च चक्रं सव्येषु भावयेत् ।।१२६।।

घण्टामपसव्यहस्तेषु हरितपद्मं मणिं तथा ।
अभूतवचसः सत्त्वान् विशोध्य पुनरागतः ।।१२७।।

उत्तरस्यां दिशि तथा विश्ववज्रे निषीदति ।
द्वेषो मोहस्तथा रागश्चिन्तामणिः समयस्तथा ।।१२८।।

कुला ह्येते तु वै पञ्च काममोक्षप्रसाधकाः[५] ।
मन्त्रान्मोहरतेर्जातां सृजेद् देवीं तु लोचनाम्[६] ।।१२९।।

श्वेतां शान्तरसोपेतां मूर्ध्नि वैरोचनाङ्किताम् ।
सितरक्तकृष्णवदनां[७] षड्भुजां तु विभावयेत् ।।१३०।।

---

१. ०मकुट०-ग, घ ।
२. विकासयन्-ग, घ ।
३. ०मकुट०-ग, घ ।
४. ०भास्वरम्-ग, घ ।
५. ०प्रसादकाः-क ।
६. लोचनीम्-घ ।
७. सितकृष्णरक्तवदनां-भो० ।

सव्ये चक्रं च वज्रं च तथैव सितमुत्पलम् ।
वामे घण्टां तथा रत्नं खड्गं चापि विभावयेत् ।। १३१ ।।

हृदयात् तु विनिर्गत्य व्यवलोक्य दिशो दश ।
ग्रहव्याध्यातुरे लोके[१] शान्तिं कृत्वा महाकृपा ।। १३२ ।।

आगत्य[२] चक्रमध्ये[३] तु पूर्वकोणे निषीदति ।
मन्त्राद् द्वेषरतेर्जातां[४] सृजेद् देवीं तु मामकीम् ।। १३३ ।।

नीलोत्पलदलश्यामां चारुवक्त्रां मनोरमाम् ।
कृष्णरक्तसितास्यां[५] च अक्षोभ्यकृतशेखराम्[६] ।। १३४ ।।

सव्येषु वज्रं चक्रं च नीलरक्तोत्पलं तथा ।
घण्टां रत्नं च खड्गं च[७] वामहस्तेषु धारयेत् ।। १३५ ।।

महाविघ्नभयार्तानां रक्षां कृत्वा महाकृपा ।
निष्क्रम्य पुनरागत्य नैर्ऋत्यां सा[८] निषीदति ।। १३६ ।।

मन्त्राद् रागरतेर्जातां[९] सृजेत् पाण्डरवासिनीम् ।
रक्तकृष्णसितास्यां वै पद्मरागमणिप्रभाम् ।। १३७ ।।

सामिताभजटाजूटां षड्भुजां तु विभावयेत् ।
गृहीत्वोत्पलनालं तु वामेन सह घण्टया ।। १३८ ।।

---

१. भीते-भो० ।
२. आभा०-घ ।
३. चन्द्र०-ग, घ, भो० ।
४. ०रतिर्जातां-ग, घ ।
५. कृष्णसितरक्तां०-भो० ।
६. ०शेखरम्-ग, घ ।
७. 'च' नास्ति-ग, घ ।
८. 'सा' नास्ति-ग, घ ।
९. रागरतिर्जातां-ग, घ ।

उत्पलं हृत्प्रदेशस्थं रक्तं सव्येन बोधयेत् ।
वज्रं चक्रं च सव्याभ्यां मणिं खड्गं च वामतः ॥ १३९ ॥

धारयन्ती विनिर्गत्य शान्तिं कृत्वा महातुरे ।
आगत्य पद्ममध्ये वै वायुकोणे निषीदति ॥ १४० ॥

मन्त्राद् वज्ररतेर्जातां सृजेत् तारां मनोरमाम् ।
हरितकृष्णसितास्यां च दूर्वापत्रसमप्रभाम् ॥ १४१ ॥

अमोघेन कृतोष्णीषां षड्भुजां तु विभावयेत् ।
विश्ववज्रं च चक्रं च सव्यतोऽसितमुत्पलम् ॥ १४२ ॥

वामेषु विन्यसेद् घण्टां रत्नं खड्गं तथा व्रती ।
सर्वसत्त्वान् वशीकृत्य विश्ववज्रासना पुनः ॥ १४३ ॥

निर्गताऽसौ समागम्य शिवस्थाने निषीदति ।
द्वितीये तु पुटे[1] योगी रूपवज्रादिकं सृजेत् ॥ १४४ ॥

अग्निकोणे सृजेद् देवीं रूपवज्रां मनोरमाम् ।
त्रिमुखां षड्भुजां श्वेतां श्रीवैरोचनमौलिकाम् ॥ १४५ ॥

गृहीतदर्पणां[2] द्वाभ्यां शेषं[3] मोहरतेरिव[4] ।
नैर्ऋत्यां विन्यसेद् देवीं[5] शब्दवज्रां तु षड्भुजाम् ॥ १४६ ॥

पीतवर्णां त्रिवक्त्रां च रत्नसम्भवमौलिकाम् ।
वीणाव्यग्रद्विहस्तां च शेषं[6] मामकीवद् भवेत् ॥ १४७ ॥

---

१. पुटो-ग, घ ।
२. गृहीतादर्पणां-क ।
३. शेषाम्-ग, घ ।
४. मोहरतेवै-क ।
५. देवी-ग, घ ।
६. शेषां-ग, घ ।

वायुस्थाने न्यसेद् देवीं गन्धवज्रां तु षड्भुजाम् ।
रक्तवर्णां त्रिवक्त्रां च अमिताभजटाधराम् ।। १४८ ।।

शङ्खव्यग्रद्विहस्तां[१] च शेषैः पाण्डरवासिनीम् ।
ऐशान्यां विन्यसेद् देवीं रसवज्रां तु षड्भुजाम् ।। १४९ ।।

त्रिमुखां[२] श्यामवर्णां[३] च दुन्दुभिस्वरमौलिकाम् ।
हस्तस्थरसभाण्डां च शेषैस्तारासमाकृतिम् ।। १५० ।।

वज्रसत्त्वं[४] समालिङ्ग्य चक्रमध्ये[५] व्यवस्थिताम् ।
चिन्तयेत् स्पर्शवज्रां तु पतितुल्यां मुखादिभिः ।। १५१ ।।

तृतीये[६] तु पुटे पूर्वे पट्टिकायां सृजेद् व्रती ।
मैं-थ्लीं-बीजविनिष्पन्नौ[७] मैत्रेयक्षितिगर्भकौ ।। १५२ ।।

प्रणवेन समुत्पन्नौ वज्रपाणिखगर्भकौ ।
पट्टिकायां सृजेन्मन्त्री दक्षिणायां यथाक्रमम् ।। १५३ ।।

ओ-हूंकारविनिष्पन्नं[८] लोकेशं मञ्जुघोषकम् ।
पश्चिमायां सृजेदेतावुत्तरस्यां[९] पुनः सृजेत् ।। १५४ ।।

ओं-सं-बीजविनिष्पन्नं[१०] सविष्कम्भिसमन्तकम् ।
एते स्वनाथमुकुटा वर्णाद्यैस्तत्समाः पुनः ।। १५५ ।।

---

१. ०हस्तं-ख, ङ ।
२. त्रिमुखं-क ।
३. श्यामवर्णं-ख, ङ; हरितवर्णां-भो० ।
४. वज्रसत्त्व-क ।
५. वह्निमध्ये-क, ख, ङ ।
६. द्वितीये-क, ख, ङ ।
७. ०निष्पन्नौ-ख, ग, घ, ङ ।
८. ०निष्पन्नं-ग, घ ।
९. ०देतावुत्तरायां-क, ख, ङ ।
१०. ०निष्पन्नं-ख, ग, घ, ङ ।

भुजैः प्रहरणैश्चापि स्वस्वाधिपतिभिः समाः[१] ।
मैत्रेयः केवलं[२] सव्ये[२] नागपुष्पं बिभर्ति च ।। १५६ ।।

संशोध्यायतनान्येते दिव्यनेत्रादिदायकाः ।
सत्त्वानां[३] पुनरागत्य[३] निषीदन्त्यासनेषु वै ।। १५७ ।।

यमान्तकृन्मन्त्रभवं कृष्णरक्तसिताननम्[४] ।
यमान्तकं सृजेन्मन्त्री स्फुलिङ्गगहनाकुलम् ।। १५८ ।।

दण्डं चक्रं तथा वज्रं सव्यहस्तेषु धारयन् ।
हृद्देशे तर्जनीपाशं घण्टां[५] परशुं[५] च वामतः[६] ।। १५९ ।।

विघ्नान् सन्त्रासयन् घोरान् इन्द्रादीन् सगणानपि ।
पद्मसूर्यं समाक्रम्य पूर्वस्यां दिशि तिष्ठति ।। १६० ।।

प्रज्ञान्तकृन्मन्त्रभवं रत्नसम्भवमौलिकम्[७] ।
अपराजितं सृजेन्मन्त्री श्वेताभमहिभूषणम्[८] ।। १६१ ।।

सितकृष्णरक्तवदनं बृहत्कुक्षिं त्रिलोचनम् ।
दंष्ट्राकरालविकटं[९] स्फुलिङ्गगहनाकुलम् ।। १६२ ।।

वज्रं दण्डं तथा खड्गं सव्यहस्तेषु[१०] धारयन् ।
हृद्देशे तर्जनीपाशं घण्टां[११] परशुं[११] च वामतः ।। १६३ ।।

---

१ सदा-क, ख, ङ ।
२-२. ०मध्य-ग, क ।
३-३. सत्त्वायतनानि संशोध्य-भो० ।
४. वैरोचनकृतशेखरं कृष्णसितरक्त०-भो० ।
५-५. घण्टापरशु-क; घण्टां परशु-ख, ङ ।
६. वामतः प्रत्यालीढपदेन तु-इत्याधिको भोटपाठः, पेकिंग-संस्करणे तु नास्त्यधिकः पाठः ।
७. मौलिकाम्-ग, घ ।
८. ०भूषितम्-ग, घ; मणिभूषणम्-भो० ।
९. विकटां-ग, घ ।
१०. सव्येषु हस्तेषु-ग, घ ।
११-११. घण्टा-परशु-क; घण्टापरशुं-ख, ङ ।

विघ्नान् सन्त्रासयन् घोरान् प्रत्यालीढपदेन तु ।
पद्मसूर्यं समाक्रम्य याम्यां दिशि स[१] तिष्ठति ।। १६४।।

यमान्तकृन्मन्त्रभवं हयग्रीवं सृजेद् व्रती ।
पद्मरागनिभं[२] त्र्यक्षं रक्तकृष्णसिताननम् ।। १६५।।

करालास्यं बृहत्कुक्षिममिताभकिरीटिनम् ।
प्रत्यालीढपदं वीरं स्फुलिङ्गगहनाकुलम् ।। १६६।।

पद्मं खड्गं च मुसलं सव्यहस्तेषु भावयेत् ।
घण्टां सगर्वपरशुं पाशं सव्येतरेषु च ।। १६७।।

पद्मसूर्यं समारुह्य व्यवलोक्य दिशो दश ।
विघ्नसन्त्रासनं[३] कृत्वा वारुण्यां दिशि तिष्ठति ।। १६८।।

विघ्नान्तकृन्मन्त्रभवं दुन्दुभिस्वरमौलिकम् ।
नीलोत्पलदलश्यामं सृजेदमृतकुण्डलिम्[४] ।। १६९।।

नीलरक्तसितास्यं च करालमुखविभ्रमम् ।
बृहत्कुक्षिं त्रिनयनं रक्तज्वालाविभूषितम्[५] ।। १७०।।

विश्ववज्रं तथा चक्रं मुसलं चापि सव्यतः ।
धारयंस्तर्जनीपाशं घण्टां[६] परशुं च[६] वामतः ।। १७१।।

विघ्नसन्त्रासनं कृत्वा[७] प्रत्यालीढपदेन तु ।
पद्मसूर्यं समारुह्य कौबेर्यां दिशि तिष्ठति ।। १७२।।

---

१. नास्ति-ग, घ ।
२. ०रागप्रभं-ग, घ ।
३. नागसन्त्रासनं-भो० ।
४. ०कुण्डलम्-ग, घ ।
५. रक्तज्वालविभूषितम्-ग, घ; स्फुलिङ्गप्रभाकुलम्-भो० ।
६-६. घण्टा-परशु-क; घण्टापरशुं-ख, ङ ।
७. नास्ति-भो० ।

स्वमन्त्राक्षरनिष्पन्नमचलं च सृजेत् पुनः ।
इन्द्रनीलप्रभं त्र्यक्षं श्रीवैरोचनमौलिकम् ॥ १७३ ॥

दंष्ट्राकरालवदनं कृष्णरक्तसिताननम् ।
अट्टहासरवं घोरं बृहत्कुक्षिं महाबलम् ॥ १७४ ॥

खड्गं वज्रं तथा चक्रं सव्यहस्तेषु धारयेत् ।
तर्जनीं चापि परशुं पाशं वामेषु पाणिषु ॥ १७५ ॥

विघ्नान् ज्वरादिकान् हत्वा प्रत्यालीढपदेन तु ।
पद्मसूर्यं समारुह्य वह्निस्थाने स तिष्ठति ॥ १७६ ॥

स्वमन्त्राक्षरनिष्पन्नं टक्किराजं सृजेद् व्रती ।
इन्द्रनीलप्रभं वीरं[1] रत्नसम्भवमौलिकम् ॥ १७७ ॥

कृष्णरक्तसितास्यं च बृहत्कुक्षिं[2] भयानकम्[2] ।
दधानं वज्रं हूंकारमुद्रां पणिद्वयेन तु ॥ १७८ ॥

वज्रं खड्गं च सव्याभ्यां वामतः पाशमङ्कुशम् ।
प्रत्यालीढेन सूर्यस्थो नैर्ऋत्यां विघ्ननाशकः ॥ १७९ ॥

स्वमन्त्राक्षरनिष्पन्नं नीलदण्डं सृजेद् व्रती ।
नीलमेघनिभं त्र्यक्षममिताभकिरीटिनम्[3] ॥ १८० ॥

नीलरक्तसितास्यं च बृहत्कुक्षिं भयावहम् ।
दण्डं खड्गं तथा चक्रं सव्यहस्तेषु धारयन् ॥ १८१ ॥

---

१. रौद्रम्-भो० ।
२-२. त्र्यक्षं दंष्ट्राभयानकम्-भो० ।
३. प्रत्यक्षमभि०-क ।

हृद्देशे तर्जनीपाशं पद्मं[१] परशुं च वामतः ।
हत्वेत्युपद्रवभयं प्रत्यालीढपदे[२] स्थितः[२] ।। १८२ ।।

पद्मसूर्यं समारुह्य वायव्यां दिशि तिष्ठति ।
स्वमन्त्राक्षरनिष्पन्नं दुन्दुभिस्वरमौलिकम् ।। १८३ ।।

महाबलं सृजेन्मन्त्री नीलोत्पलदलप्रभम्[३] ।
कृष्णरक्तसितास्यं च त्र्यक्षं भैरवनादितम्[४] ।। १८४ ।।

नागभूषितसर्वाङ्गं बृहत्कुक्षिं भयानकम् ।
दण्डं खड्गं तथा चक्रं सव्यहस्तेषु धारयन् ।। १८५ ।।

हृद्देशे तर्जनीपाशं पद्मं[५] परशुं च वामतः ।
डाकिन्यादिभयध्वंसी प्रत्यालीढपदेन सः ।। १८६ ।।

पद्मसूर्यं समारुह्य ऐशान्यां दिशि तिष्ठति ।
स्वमन्त्राक्षरनिष्पन्नं सृजेदुष्णीषचक्रिणम् ।। १८७ ।।

आकाशश्यामकं घोरमक्षोभ्यकृतशेखरम् ।
कृष्णरक्तसितास्यं[६] च त्र्यक्षं लम्बोदरं[७] विभुम्[७] ।। १८८ ।।

वामदक्षिणहस्ताभ्यामुष्णीषं मूर्ध्नि धारयन् ।
वज्रं[८] पद्मं[८] च सव्याभ्यां तर्जनीखड्गमन्यतः ।। १८९ ।।

---

१. नास्ति-भो० ।
२-२. प्रत्यालीढस्थितश्चण्डः-भो० ।
३. नीलोत्पलवर्णनिभम्-भो० ।
४. भैरवनादिनम्-ग ।
५. नास्ति-क, ख, भो०; खड्गं -भो० (पेकिंग-संस्करणम्) ।
६. नील०-भो० ।
७-७. लम्बोदरविभुम्-ग, घ ।
८-८. वज्रपद्मं-क, ख, ङ ।

सर्वोपद्रवविध्वंसी प्रत्यालीढपदोद्यतः[१] ।
पद्मसूर्यं समारुह्य ब्रह्मस्थाने स तिष्ठति ॥१९०॥

स्वमन्त्राक्षरनिष्पन्नं सुम्भराजं सृजेद् व्रती ।
आकाशसुप्रभं[२] त्र्यक्षं कृष्णरक्तसितानननम् ॥१९१॥

बृहत्कुक्षिं करालास्यमक्षोभ्यकृतशेखरम् ।
वज्रं चक्रं तथा[३] रत्नं[४] सव्यहस्तेषु धारयन् ॥१९२॥

हृद्देशे तर्जनीपाशं पद्मखड्गं च वामतः ।
कालकूटादिकं सर्वविषं स्थावरजङ्गमम् ॥१९३॥

हत्वा विनायकान् सर्वान्[५] शान्तिं कृत्वा तु सर्वतः ।
आज्ञां सम्पाद्य निखिलां प्रत्यालीढपदे[६] स्थितः[६] ।
पद्मसूर्यं[७] समारुह्य भुवोऽधस्तात् स तिष्ठति ॥१९४॥

उत्सृज्य मण्डलं सर्वं द्वात्रिंशद्देवतामयम् ।
चक्रमध्यस्थितो भूत्वा सूक्ष्मयोगमथारभेत् ॥१९५॥

नासाग्रे सर्षपं चिन्तेत् सर्षपे सचराचरम् ।
भावयेज्ज्ञानपदं रम्यं रहस्यं ज्ञानकल्पितम्[८] ॥१९६॥

स्थिरं तु स्फारयेद् रत्नमस्थिरं नैव स्फारयेत् ।
स्फारयेत् प्रवरैर्मेघैर्बुद्धज्वालासमप्रभैः ॥१९७॥

---

१. प्रत्यालीढोद्यतश्चण्डः-भो० ।
२. नभोवर्णनिभं-भो० ।
३. च-ग, घ ।
४. रत्नं च-ग, घ ।
५. नास्ति-ग, घ ।
६-६. ०पदस्थितः-ग, घ ।
७. ०सूर्य-ग, घ ।
८. ०कल्पिताम्-ग, घ ।

भिक्षाशिना न जप्तव्यं[१] न च भैक्षरतो भवेत् ।
जपेन्मन्त्रमभिन्नाङ्गं सर्वकामोपभोगकृत् ।। १९८ ।।

उच्चार्य संस्फरेद् वज्रं समाप्तौ संहारमादिशेत् ।
इदं तत् सर्वबुद्धानां जपोक्तं परमार्थतः ।। इति ।१९९ ।।

सूक्ष्मयोगजपं चापि द्विधा कृत्वा यथारुचि ।
आत्मानं च पुनर्मन्त्री तथतायां प्रवेशयेत् ।। २०० ।।

मण्डलस्थाश्चतुर्देव्यो[२] न पश्यन्त्यस्ततः[३]पतिम् ।
गाथाचतुष्टयेनेत्थं बोधयन्ति महासुखम् ।। २०१ ।।

त्वं वज्रसत्त्व[४] भुवनेश्वर सत्त्वधातो
त्रायाहि मां रतिमनोज्ञमहार्थकामैः ।
कामाहि मां जनक सत्त्वमहाग्रबन्धो
यदीच्छसे जीवतु[५] मह्य नाथ[५] ।। २०२ ।।

त्वं वज्रकाय बहुसत्त्वप्रियाग्रचक्र[६]
बुद्धार्थबोधिपरमार्थहितानुदर्शी ।
रागेण रागसमयां[७] मम कामयस्व
यदीच्छसे जीवतु मह्य नाथ ।। २०३ ।।

त्वं वज्रवाच सकलस्य हितानुकम्पी
लोकार्थकार्यकरणे सद सम्प्रवृत्तः ।
कामाहि मां सुगतचर्य[८] समन्तभद्र
यदीच्छसे जीवतु मह्य नाथ ।। २०४ ।।

---

१. जम्भव्यम्-ख, ङ ।
२. भोटपाठे 'चतुर्' इति शब्दो नास्ति ।
३. पश्यन्तं ततः-क, ख, ङ ।
४. वज्रचित्त-ग, घ, भो०, मूलतन्त्रे गुह्यसमाजे ।
५-५. जीवितं मञ्जुनाथ-भो० सर्वत्र, मूलतन्त्रे ।
६. प्रियाङ्कचक्र-मूलतन्त्रे; आज्ञाचक्र-भो०; ०चक्रम्-ग, घ ।
७. रागं समयां-ग, घ ।
८. विमलचर्य-भो० ।

त्वं वज्रकाम[१] समयाग्र महाहितार्थ
संबुद्धवंशतिलकः[२] समतानुकम्पी[३] ।
कामाहि मां गुणनिधिं[४] बहुरत्नभूतां[४]
यदीच्छसे जीवतु मह्य नाथ ।। २०५ ।।

एवमुत्थापितं नाथं[५] सद्भूतगुणकीर्तनैः ।
अक्षोभ्यादिस्वभावेन संस्तुवन्ति तथागताः ।। २०६ ।।

अक्षोभ्यवज्र महाज्ञान वज्रधातु महाबुध ।
त्रिमण्डल त्रिवज्राग्र भाष[६] गुह्यं[६] नमोऽस्तु ते ।। २०७ ।।

वैरोचन महाशुद्ध वज्रशान्त महारते[७] ।
प्रकृतिप्रभास्वरान् धर्मान्[८] देश वज्र नमोऽस्तु ते ।। २०८ ।।

रत्नराज सुगम्भीर[९] खवज्राकाशनिर्मल ।
स्वभावशुद्ध निर्लेप भाष[१०] गुह्यं[१०] नमोऽस्तु ते ।। २०९ ।।

वज्रामितमहाराज[११] निर्विकल्प खवज्रिण[१२] ।
रागपारमिताप्राप्त भाष[१३] वज्र[१३] नमोऽस्तु ते ।। २१० ।।

अमोघवज्र संबुद्ध[१४] सर्वाशापरिपूरक[१५] ।
शुद्धस्वभावसम्भूत[१६] वज्रसत्त्व नमोऽस्तु ते ।। २११ ।।

---

१. वज्रकाय-मूलतन्त्रम् ।
२. संबुद्धवंशवराग्रः-भो० ।
३. समतानुदर्शी-भो० ।
४-४. गुणनिधे बहुरत्नभूत-भो० ।
५. नाग-ग,घ ।
६-६. भाषवज्रं-ग,घ; गुह्यघोष-भो०; घोषवज्र-मूलतन्त्रम् ।
७. महारत-भो०; मूलतन्त्रम् ।
८. वरान्-भो० ।
९. ०गाम्भीर्य-ग,घ, मूलतन्त्रम् ।
१०-१०. कायवज्र-ग,घ मूलतन्त्रम्; गुह्यवाच-भो० ।
११. वज्रामृत०-क,ख,ङ; ०महाराग-भो० ।
१२. खवज्रिणम्-क,ख; खवज्रधृक्-मूलतन्त्रम्; भो० ।
१३-१३. वज्रवाच-भो० ।
१४. सम्बुद्धा-ग,घ ।
१५. व०पूरिक-ग,घ ।
१६. बुद्धस्वभाव०-भो० ।

नुत्वाथ बुद्धैरनुराग्य[१] चक्रम्
प्रकाश्य गुह्यं परमं यथायथम्[२] ।
स्वकायचक्रे विनिवेश्य चक्रम्
महासुखस्तिष्ठति[३] नाथ एकः ।। २१२।।

एवं चतुर्योगकरस्तु[४] योगी
हूंकारगर्भं प्रविचिन्त्य लोकम् ।
दृष्ट्वा जगत् तद्भववज्रसत्त्वं
व्युत्थाय[५] तद्धीर्विचरेद् यथावद् ।। इति।२१३।।

समाधिमालम्बयन्[६] मन्त्री[६] शुष्कमूर्तिर्यदा[७] भवेत् ।
विचिन्तयेदिमं[८] योगं कायवाक्चित्तप्रीणनम् ।। २१४।।

वितस्तिमात्रमाक्रम्य[९] मूर्ध्नि मण्डलकल्पना ।
ओंकारं तत्रगं ध्यात्वा पञ्चामृतनिपातनम् ।। २१५।।

अनेन वज्रयोगेन तेजस्वी भवति[१०] क्षणात् ।
कायवाक्चित्तसौस्थित्यं लभते नात्र संशयः ।। २१६।।

एवमभ्यासतो मन्त्री शोधयेद् बोधयेत् यथा ।
हृत्कण्ठं चैव संशोध्य प्रीणयेच्च तथागतान् ।। २१७।।

---

१. नास्ति-भो० ।
२. यथा यथा-क ।
३. महासुखं०-ग, घ ।
४. 'चतुर्' इति नास्ति-क, ख, ग ।
५. उत्थाय-ग, घ ।
६-६. ०मालम्बन्मन्त्री-ग, घ, ङ ।
७. अनुत्पत्तिर्यदा-क; मनुत्पत्ति०-ख, ङ ।
८. विचिन्तयदिमं-क ।
९. ०मात्रमतिक्रम्य-ग, घ ।
१०. भवते-ग, घ ।

हूंकारेण च संशोध्य आःकारेण तु बोधयेत् ।
ज्वालयेत् प्रणवाक्रान्तम् इयमाहारशोधना ।। २१८ ।।

कण्ठे शङ्खं विचिन्त्यादौ तस्मिन् ह्रीःकारसम्भवम् ।
पद्ममष्टदलं चिन्तेद् हूंकारं कर्णिकोपरि ।। २१९ ।।

हूंकारजं महावज्रं पञ्चशूकं[१] विभावयेत् ।
मध्यशूकाग्रे सञ्चिन्तेद् ओंकारं कण्ठशोधनम् ।। २२० ।।

मेघनादं हृदि ध्यात्वा त्रिशिखाग्निं ततः स्फरेत्[२] ।
तत्राहारं[३] च जुहुयाद् होममाध्यात्मिकं त्विदम् ।। २२१ ।।

वायव्यं दीपयेद् अग्निं वारुणं[४] पचते तु सः ।
माहेन्द्रमण्डलं स्थानं यत्र सञ्चरते हविः ।। २२२ ।।

अन्नं[५] पानं[५] च यत् किञ्चित् तत् सर्वं वारुणेन तु ।
अशनं[६] मुखपद्मेन हृत्पद्मं सम्प्रवेशयेत् ।। २२३ ।।

नाभिपद्मगतं[७] पश्चात् सम्पुटीकरणयोगतः ।
गुदपद्माद् विनिर्गत्य भश्मान्तं[८] च विनिर्दिशेत् ।। २२४ ।।

न जरा नापि रोगश्च[९] न मृत्युर्न विषादिकम् ।
नाकालमरणं तस्य सर्वोपद्रवनाशनम् ।। इति ।२२५ ।।

---

१. पञ्चसूचकं-ग, घ ।
२. स्मरेत्-ग, घ ।
३. तत्राहरं-ग, घ ।
४. वारुण्यं-ग, घ ।
५-५. अन्नपानं-ग, घ ।
६. आसनं-ग, घ ।
७. नाभिमण्डल०-भो० ।
८. भासमान्तं-क ।
९. रागश्च-क, ख, ङ ।

श्रीवज्रमालावरमन्थनेन[१]
गूढं समाजाम्बुनिधिं मथित्वा ।
यत् साधनाङ्गामृतमापि तेन
लोकः समस्तोऽमरतामुपैतु ।। २२६ ।।

।। पिण्डीक्रमसाधनं समाप्तम् ।।
। कृतिराचार्यश्रीनागार्जुनपादानाम्[२] ।

•

१. ०मालावमन्थ०-क, ख, ग ।
२. ०राचार्यनागा०-ग, घ ।

आचार्यनागार्जुनप्रणीतः

पञ्चक्रमः

[१]

वज्रजापक्रमः प्रथमः

ओं नमो बुद्धाय[१]

सर्वबुद्धात्मकं नाथं नत्वा श्रीमन्महासुखम् ।
वज्रजापक्रमं वक्ष्ये योगतन्त्रानुसारतः ॥ १॥

उत्पत्तिक्रमसंस्थानां निष्पन्नक्रमकाङ्क्षिणाम् ।
उपायश्चैष संबुद्धैः सोपानमिव निर्मितः[२] ॥ २॥

प्राणभूतश्च सत्त्वानां वाय्वाख्यः सर्वकर्मकृत् ।
विज्ञानवाहनश्चैष[३] पञ्चात्मा दशधा[४] पुनः ॥ ३॥

वायुतत्त्वानुपूर्वेण मन्त्रतत्त्वं समाविशेत् ।
मन्त्रनिध्यप्तिमागम्य[५] वज्रजापः[६] सुशिक्ष्यते[६] ॥ ४॥

वज्रजापस्थितो[७] मन्त्री[८] चित्तनिध्यप्तिमाप्नुयात्[९] ।
मायोपमसमाधिस्थो भूतकोट्यां[१०] समाविशेत्[१०] ॥ ५॥

भूतकोटेः[११] समुत्तिष्ठन्नद्वयज्ञानमाप्नुयात् ।
युगनद्धसमाधिस्थो न किञ्चिच्छिक्षते पुनः ॥ ६॥

---

१. नास्ति- क,ख,ङ ।
२. भाषितः- भो० ।
३. चैव- क ।
४. दशाख्यः- भो० ।
५. ०निध्यपति०- क ।
६-६. ०जापं सुशिक्षते- ग,घ ।
७. वज्रजापे स्थितो- ग,घ ।
८. योगी- भो० ।
९. ०निध्यपित०- क ।
१०-१०. भूतकोट्या विशोधयेत्- ग,घ; भूतकोटिं विशोधयेत्-भो० ।
११. ०कोटिः- ग,घ ।

अयं निष्पन्नयोगाख्यो[१] महावज्रधरश्च सः ।
सर्वाकारवरोपेतः सर्वज्ञो[२] जायते[२] ततः ।। ७।।

अनागतमतीतं च वर्तमानं भवत्रयम् ।
तत्क्षणात् निखिलं[३] पश्येत् प्रभास्वरविशुद्धितः ।। ८।।

एतत्तत्त्वं स्थितं तन्त्रे **श्रीसमाजे** सुमुद्रितम्[४] ।
व्याख्यातन्त्रानुसारेण बोद्धव्यं गुरुवक्त्रतः ।। ९।।

तत्र प्रथमतरं वायुतत्त्वोद्देशपदं **मूलसूत्रा**देवावतार्यते[५]—

नासाग्रे सर्षपं चिन्तेत् सर्षपे सचराचरम् ।
भावयेज्ज्ञानपदं[६] रम्यं[६] रहस्यं ज्ञानकल्पितम् ।। १०।।

पञ्चवर्णं महारत्नं सर्षपस्थूलमात्रकम्[७] ।
नासिकाग्रे प्रयत्नेन भावयेद् योगतः[८] सदा ।। ११।।

इति सन्धाभाषेयमस्य वज्रपदस्य निर्देशमाह **चतुर्देवीव्याख्यातन्त्रे**[९] :

तद् देवि सम्प्रवक्ष्यामि सारात् सारतरं परम् ।
रहस्यं सर्वबुद्धानां यत् तत् सर्वात्मनि[१०] स्थितम् ।। १२।।

पञ्चज्ञानमयं तत्त्वं सर्षपस्थूलमात्रकम् ।
तस्य मध्ये स्थितो देवो ह्यव्यक्तो[११] व्यक्तरूपवान् ।। इति। १३।।

---

१. ०योग्याख्यो- भो० ।
२-२. सर्वतेजायते- ग,घ ।
३. निखिलां- ग,घ ।
४. समुद्रितम्- ख,घ ।
५. मूलतन्त्रा०- भो० ।
६-६. ज्ञानदं रम्यं- मूलतन्त्रम् (४:९;) ०श्रेष्ठं-भो० ।
७. ०कणमात्रकम्- भो० (सर्वत्र); सर्षपस्थमात्रकम्-मू०त० (३:१२) ।
८. योगवित्- भो० ।
९. नास्ति- ग,घ ।
१०. स्वयमात्मनि- क ।
११. ह्यव्यक्ते- ग,घ ।

समाजोत्तरेऽप्यमुमर्थं द्योतयन्नाह :

पञ्चज्ञानमयं श्वासं पञ्चभूतस्वभावकम् ।
निश्चार्य पद्मनासाग्रे[१] पिण्डरूपेण[१] कल्पयेत्[२] ॥ १४॥

पञ्चवर्णं महारत्नं प्राणायाममिति स्मृतम् ।
स्वमन्त्रं हृदये ध्यात्वा चित्तं[३] बिन्दुगतं[३] न्यसेत् ॥ १५॥

इत्यस्यापि प्रतिनिर्देशमाह **वज्रमाला**नाम्नि व्याख्यातन्त्रे :

नासाग्रे सर्षपं नाम प्राणायामस्य कल्पना ।
प्राणायामस्थिताः पञ्च रश्मयो बुद्धभावतः ॥ १६॥

ऊर्ध्वं घ्राणाद् विनिष्क्रान्तो वामदक्षिणद्वन्द्वतः ।
स्तब्धश्चेति[४] चतुर्धाऽस्माद् वेला आध्यात्मिका स्मृता॥ १७॥

कण्ठहृन्नाभिगुह्याब्जे गत्यागती[५] विनिर्दिशेत् ।
विहरेद् अर्धयामिकां वेलां[६] परिपाट्या यथाक्रमम् ॥ १८॥

दक्षिणाद् विनिर्गतो रश्मिर्[७]हुतभुङ् मण्डलं च तत् ।
रक्तवर्णमिदं व्यक्तं पद्मनाथोऽत्र देवता[८] ॥ १९॥

वामाद् विनिर्गतो रश्मिर्वायुमण्डलसंज्ञितः ।
हरितश्यामसङ्काशः[९] कर्मनाथोऽत्र देवता ॥ २०॥

१-१. पिण्डरूपेण नासिकाग्रे-मूलतन्त्रम्- (१८:१४७) ।
२. इतः परं ग-घ-पुस्तके खण्डिते ।
३-३. प्राणबिन्दुगतं- मू०त० (१८:१४८) ।
४. अ (ध) श्चेति- क,ख-ङ-पुस्तके अत्र खण्डिते ।
५. गत्यागति-क,ख,ङ ।
६. कोष्ठकेऽयं पाठः-क ।
७. धातुर- भो० ।
८. वहति- भो० (सर्वत्र) ।
९. ०पीत०- भो० ।

द्वाभ्यां विनिर्गतो रश्मिः पीतवर्णो महाद्युतिः ।
माहेन्द्रमण्डलं चैतद् रत्ननाथोऽत्र देवता ।। २१।।

स्तब्धो[१] मन्दप्रचारस्तु[२] सितकुन्देन्दुसन्निभः[३] ।
मण्डलं वारुणं चैतद् वज्रनाथोऽत्र देवता ।। २२।।

सर्वदेहानुगो[४] वायुः सर्वचेष्टाप्रवर्तकः[५] ।
वैरोचनस्वभावोऽसौ मृतकायाद् विनिश्चरेत् ।। २३।।

वायुतत्त्वमिदं व्यक्तं पञ्चज्ञानस्वभावकम् ।
तार्किका न प्रजानन्ति अगम्यं बालयोगिनाम् ।। २४।।

इत्येवं वायुतत्त्वं प्रतिपाद्येदानीं मन्त्रतत्त्वस्योद्देशपदं **मूलसूत्रादवतार्यते**[६] :

सर्वतथागतकायवाक्चित्तरहस्यं सर्वतन्त्रहृदयसञ्चोदनं नाम परमगुह्यं स्वकायवाक्चित्तवज्रेभ्यो वाक्पथनिरुक्त्या मन्त्रसमुच्चयमुदाजहार ओं आः हूं ।

अर्थानुगमजापेन निःस्वभावेन[७] चारुणा ।
विचारणा त्र्यध्वबुद्धेभ्यो वज्रजापः स उच्यते ।। २५।।

भिक्षाशिना न जप्तव्यं न च भैक्षरतो भवेत् ।
जपेन्मन्त्रमभिन्नाङ्गं सर्वकामोपभोगकृत् ।। २६।।

---

१. अधो- क; नास्ति- भो० ।
२. मन्दधातुस्तु- भो० ।
३. शुद्धस्फटिकसन्निभः- भो० ।
४. ०स्थितो- भो० ।
५. ०प्रवेशकः- भो० ।
६. मूलतन्त्रादव०-भो० ।
७. स्वभावेन इतिशब्दतः पुनः ग-घ-पुस्तके प्रारभ्येते ।

इत्युद्देशपदम् अस्य[१] निर्देशमाह[२] **सन्ध्याव्याकरणव्याख्यातन्त्रे**[३] तदवतार्यते :

प्रत्युवाच ततः श्रीमान् महावैरोचनं विभुम् ।
विश्वरूपमिदं चित्तं सर्वसत्त्वोपपत्तितः ।। २७।।

जातं सन् निःस्वभावोऽपि भावाख्यं[४] तु प्रतीत्यतः ।
कृत्वा चानुभवं[५] सम्यग् बोधिचित्तं खतुल्यकम् ।। २८।।

जगदर्थं विधातुं च तद्देशयोत्तमे[६] जने ।
साधनोपायिकामात्रं ज्ञात्वा तन्त्रे विपञ्चितम्[७] ।। २९।।

आचार्या[८] वयमित्येवं वदन्त्यागामिका[९] विभो[१०] ।
यद् वाक्यं ममेत्येवमुक्त्वा क्षिपन्ति बालिशाः[११] ।
सन्ध्याय बोधिचित्तं ते न विदन्ति यथार्थतः ।। इति। ३०।।

यथेदं भगवान् स्वामी महावैरोचनो विभुः ।
त्रिष्कृत्वा[१२] साधुवचनं वज्रपाणिं वदेदिदम् ।। ३१।।

कथयमामि प्रभेदेन निर्विकल्पार्थतत्त्वतः ।
प्रव्याहारोपलम्भाख्यं[१३] साङ्केतं[१४] पारमार्थिकम् ।। ३२।।

---

१. तस्य- ग,घ ।
२. निर्देशप्रतिनिर्देश०- ग,घ ।
३. ०व्याकरणतन्त्रे- भो० ।
४. भवाख्यं- भो० ।
५. सानुभवं- ग,घ ।
६. तद्देश्योत्तमे- क ।
७. विपञ्च्यते- भो० ।
८. आचर्या- ख,ङ ।
९. ०आगमिका- क ।
१०. नास्ति-भो० ।
११. बालिशान्-ख,ङ-भो० ।
१२. त्रिस्कृत्वा- क ।
१३. प्रत्याहारोप०- क ।
१४. सङ्केतं- क,ख,ङ ।

प्रव्याहारो हि सामान्यं बुद्धरूपोपलम्भकम् ।
साङ्केतं मन्त्रतत्त्वाख्यं तथता पारमार्थिकम् ।। ३३ ।।

एकादिर्नवमध्ये[1] तु दशभिर्यो न बध्यते ।
तमबद्धं विजानीयात् स[2] वेत्ति[2] परसम्पदम्[3] ।। ३४ ।।

स्वरव्यञ्जनवर्णाश्च[4] नवसंख्यानुवर्तिनः[5] ।
'अ'[6]-बद्धान्योन्यसंयोगाद् यो वेत्ति स जगद्गुरुः ।। ३५ ।।

भूतान्तेन समायुक्तं कलादिषोडशे स्थितम् ।
पञ्चपञ्चकसंयुक्तं चतुस्त्रयनियोजितम् ।। ३६ ।।

सानुस्वारं सदीर्घं च गुणसंयोगलोपवत् ।
ह्रस्वं समस्तवाक्यं स्यान्न चानेकं न चैककम् ।। ३७ ।।

ये वर्णाः पृष्ठतः प्रोक्ता अभिमुखाश्च ये पुनः ।
स्त्री-पुं-नपुंसकास्ते च धात्वादिपरिकल्पिताः ।। ३८ ।।

अध-ऊर्ध्वसमायुक्तं ज्ञात्वा बुद्ध्या नियोजयेत् ।
प्रव्याहारमिदं मन्त्रं निःस्वभावस्वभावजम्[7] ।। ३९ ।।

ततः परिणतं रूपं यद्देवतोपलम्भिकम्[8] ।
साङ्केतिकं त्रितत्त्वस्थं प्रकृतिजापलक्षणम् ।। ४० ।।

---

१. एकादिर्ना च मध्ये-क; ०मध्यं-ख ।
२-२. सर्व्वत्ति- क,ख ।
३. परमं पदम्- ग,घ ।
४. ०वर्णश्च- क ।
५. ०वर्तिनिः- ग ।
६. नास्ति- ग,घ ।
७. ०भाव्रजः- ख,ङ ।
८. ०लम्भकम्- क ।

अकारोद्देशकं ज्ञानं बुद्धस्य हृदयं भवेत् ।
ओंकारः संसृजेत्[१] सत्त्वान् बुद्धरूपाग्रकल्पितान् ।। ४१ ।।

हूंकारः संहरेत्[२] सत्त्वान्[३] आःकारः[४] स्थापको भवेत्[५] ।
प्रवेशश्च स्थितिश्चैव व्युत्थानं च क्रमेण च ।। ४२ ।।

जपेन् मन्त्रमभिन्नाङ्गं प्रज्ञोपायपदे स्थितः[६] ।
पाण्डरादिजपः[७] प्रोक्तः पञ्चविंशच्छतद्वयम्[८] ।। ४३ ।।

चतुर्भिर्गुणितं सम्यक् चतुर्योगशतं नव[९] ।
नवशतं तु यद् दृष्टं चतुर्विंशत्परिक्रमैः ।
प्रत्युत्पादाद् भवेत् तत्र द्वययुतं शतषोडशम् ।। ४४ ।।

इदमेवाध्यात्मिकवेलायां द्योतयन्नाह **समाजोत्तरे** :

विद्यानयविधानेन चतुःसन्ध्याप्रयोगतः ।
जपेन्मन्त्रमभिन्नाङ्गं[१०] लक्षमक्षरसंख्यया[११] ।। ४५ ।।

बाह्यजापं त्यजेद् योगी भावनायान्तरायिकम् ।
मन्त्रार्थो भगवान् वज्री वज्रात्मात्र[१२] कथं जपेत् ।। ४६ ।।

---

१. संहरेत्- भो० ।
२. संसृजेत्- भो० ।
३. इत्यतोऽनन्तरं 'बुद्धचित्ताग्रकल्पितान्' इत्यधिको भोटपाठः ।
४. अःकारः- क ।
५. इत्यतोऽनन्तरं 'बुद्धवाचाग्रकल्पितान्' इत्यधिको भोटपाठः ।
६. स्थितेः- ग,घ ।
७. पाण्डुरादिजापः- क ।
८. पञ्चविंशति०- ग,घ ।
९. न च- ख,ग ।
१०. ०मभिन्नाङ्गः- ग,घ ।
११. लक्षं अक्षरसंख्येति- क; गुह्यसमाजमूलतन्त्रे नास्त्ययं श्लोकः ।
१२. वज्रात्मा तु- ख,ग,घ,ङ ।

हस्तिनं लभते सद्यो मृगयेद्धस्तिनः पदम् ।
मन्त्रमूर्तिः स्वयं साक्षात् किमन्यत्तु गवेषते ।। ४७ ।।

अपि च वज्रधृक् कश्चित् त्रिसंयोगान्वितो नरः ।
आवाहनविसर्जनं स्यात् तथा स्थापनमेव च ।। ४८ ।।

आवाहनं प्रवेशेन त्वरितेन विसर्जनम् ।
वाष्पेण[१] स्थापनं तत् स्याद् विश्वस्तात्[२] सिद्धिरुत्तमा ।। ४९ ।।

त्वरिते निबन्धके वाष्पे [३]मन्त्रनियोजना कथिता ।
कर्णमूले तु शिष्यायाचार्येण सुप्रयत्नतः ।। ५० ।।

अथ योगेश्वराणां तु दिव्योपायः प्रदर्शितः ।
गुह्याक्षरं प्रवक्ष्यामि योगसिद्धिफलप्रदम् ।। ५१ ।।

येन चिन्तितमात्रेण योगिनः स्युर्वरप्रदाः ।
आद्यक्षरप्रयोगेण उच्छवासं कुरुते सदा ।। ५२ ।।

अष्टान्तेन समायुक्तमुकारेण सबिन्दुकम् ।
निश्वासं कुरुते योगी रुचिजाप्तमिहोच्यते[४] ।। ५३ ।।

अयुतद्वयं सहस्रं च षट् शतानि तथैव च ।
अहोरात्रेण योगीन्द्रो जपसंख्यां करोति च ।। ५४ ।।

तदेवं[५] गुह्यसन्ध्यायां सूक्ष्मयोगः प्रकाशितः ।
ध्यानाध्ययनवीतं[६] तु तथापि जाप उच्यते ।। ५५ ।।

---

१. वाष्पेन-क; अनुभयेन- भो० ।
२. विश्वस्ता- ख,ङ,क ।
३. ग-घ-पुस्तकयोः कतिपयोंऽशोऽत्र त्रुटितः ।
४. ०जप्त०- ख,ङ ।
५. तदेतं- ख,ङ ।
६. ध्यानाध्ययनवितं- क ।

अनेन वज्रजापेन सेवां कृत्वा यथाविधि ।
साधयेत् सर्वकार्याणि मायोपमसमाधिना ।। ५६ ।।

अत्राह[१] **अद्वयसमतामहायोगतन्त्रे**[२] :

जपित्वा मन्त्रमतुलं साधयेत् साधनात्मकः ।
सिध्यते तस्य त्रैलोक्यं मासैकेन न संशयः ।। ५७ ।।

षड् लक्षाणि[३] जपित्वा तु मन्त्रं ज्ञानसमुद्भवम् ।
वज्रसत्त्वं नमस्कृत्य पूर्णमास्यां स सिध्यति ।। ५८ ।।

न तस्य व्रतमाख्यातं नाक्षसूत्रं न मन्त्रकम् ।
धारणा होमकर्माणि वर्ज्यन्ते[४] च परापरम् ।। ५९ ।।

यकारार्थेन यत् किञ्चित् कर्त्तव्यं सिद्धिमिच्छता ।
रेफादित्रितयेनैव जगत्कार्यं प्रवर्तते ।। ६० ।।

अग्निवायव्यमाहेन्द्रवारुणे प्रतिमण्डले ।
अर्धयामिकवेलायां द्वौ द्वौ कर्मणि तिष्ठतः ।। ६१ ।।

पूजाप्रायो भवेत् पूज्यो जापप्रायो[५] विशुध्यति ।
अग्निहोत्रपरो भूतिं मोक्षं ध्यानपरो लभेत् ।। ६२ ।।

ज्ञात्वा इत्थं ततो मन्त्री जगद्बालवदाचरेत् ।
ततः सिध्यन्ति मन्त्राश्च निर्विकल्पैकधर्मतः[६] ।। ६३ ।।

---

१. नास्ति- भो० ।
२. अद्वयसमताविजयमहायोग०- ख,ङ; ०अद्वयसमताविजयतन्त्रेऽपि- भो० ।
३. लक्षानि-क ।
४. वर्जयन्ते- क ।
५. जपप्रायो- ख,ङ ।
६. निर्विकल्पैकधर्मिणा- भो० ।

मन्त्रतत्त्वमिदं व्यक्तं वाग्वज्रस्य प्रसाधनम् ।
ज्ञानत्रयप्रभेदेन चित्तमात्रे नियोजयेद् ।। इति। ६४।।

गुरोरवज्ञासुशठोऽप्रसन्नो
मन्त्रोद्धतः पुस्तकदृष्टिगर्वः ।
अश्रद्दधानस्त्वभिषेकहीनो[१]
वार्ता क्रमस्यापि च तस्य नोक्ता ।। ६५।।

यः श्रद्दधानो गुरुभक्तिरक्तः
शुश्रूषणायां च सदाभियुक्तः ।
ग्राह्यः[२] श्रुतिं[२] नैव धनं निरीक्ष्यं[३]
गुरुप्रधानोऽस्य गुरुप्रसादः ।। ६६।।

गिरीन्द्रमूर्ध्नः प्रपतेत्[४] तु[४] कश्चित्
नेच्छेच्च्युतिं तु च्यवते तथापि ।
गुरुप्रसादाप्तहितोपदेश
इच्छेन्न मोक्तुं स तथापि मुक्तः ।। ६७।।

।। वज्रजापक्रमः समाप्तः।।

कृतिरियं श्रीनागार्जुनपादानामिति ।
ग्रन्थप्रमाणमस्य षडधिकसप्ततिः[५] ।। प्रथमः क्रमः ।।

•

---

१. अशरद्दधान०- क (सर्वत्र) ।
२-२. ग्राह्यश्रुतिं-ख,ङ ।
३. परीक्ष्यं- क ।
४-४. प्रपतेन्दु- ख,ङ ।
५. षडधिका सप्ततिः- क ।

अनुत्तरसन्धिरित्यपरनामा
सर्वशुद्धिविशुद्धिक्रमः द्वितीयः

नमः श्रीवज्रसत्त्वाय

नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु नमो नमः ।
एवं स्तुते नमस्तेऽस्तु कः स्तोता कश्च संस्तुतः ॥ १ ॥

यथा जलं जले न्यस्तं घृतं चैव यथा घृते ।
स्वकीयं च स्वयं पश्येज् ज्ञानं यत्रेह वन्दना ॥ २ ॥

किन्तु सर्वज्ञगतिभिर्विना तत्रोपलभ्यते ।
तमःपटलसञ्छन्नं[१] प्रसादाद् द्वीपमाप्नुयात् ॥ ३ ॥

शून्यं च अतिशून्यं च महाशून्यं तृतीयकम् ।
चतुर्थं सर्वशून्यं च फलहेतुप्रभेदतः ॥ ४ ॥

प्रज्ञोपायसमायोगान्निष्पन्नमुपलब्धकम् ।
उपलब्धाच्च निष्पन्नात् सर्वशून्यं प्रभास्वरम् ॥ ५ ॥

हेतुक्रमविशुद्धं तु विज्ञानत्रययोगतः ।
शून्यत्रयसमायोगाल्लभ्यतेऽनुत्तरं पदम् ॥ ६ ॥

आलोकश्शून्यं[२] प्रज्ञा च[३] चित्तं च परतन्त्रकम् ।
तस्येदानीं प्रवक्ष्यामि प्रकृतिस्फरणं स्फुटम् ॥ ७ ॥

---

१. तमः पतल०- ख ।
२. अलोकं- ख ।
३. इतस्तावत् ग-घ-पुस्तके पुनः प्रारभ्येते ।

विरागो मध्यमश्चैव अधिमात्रस्तथैव च ।
मनोगतागतं[१] चैव शोकादितृतीयं तथा ॥ ८॥

सौम्यं विकल्पो भीतश्च[२] मध्यभीतोऽतिभीतकः ।
तृष्णा मध्यतृष्णा चातितृष्णोपादानकं तथा ॥ ९॥

निःशुभं क्षुत्तृषा चैव वेदना समवेदना ।
अतिवेदना क्षणश्चैव वेत्तिविद्धारणापदम्[३] ॥ १०॥

प्रत्यवेक्षणं[४] लज्जा[४] च कारुण्यं स्नेहतस्त्रयम् ।
चकितं संशयश्चैव[५] मात्सर्यं चेति कीर्तिताः ॥ ११॥

त्रयस्त्रिंशत् प्रकृतयः स्वसंवेद्याः शरीरिणाम् ।
संवृतिस्फुटरूपेण[६] निशासंज्ञा प्रदर्शिताः ॥ १२॥

स्त्रीसंज्ञा तथा प्रोक्ता मन्दाकारा[७] तथैव[७] च ।
वामसंज्ञा[८] पुनश्चैव चन्द्रमण्डलपङ्कजम् ॥ १३॥

दृढीकरणहेतुत्वात् सबिन्दुः प्रथमः[९] स्वरः[९] ।
निशाकरांशुसङ्काश आलोकज्ञानसम्भवः[१०] ॥ १४॥

आलोकाभासमित्युक्तम् अतिशून्यमुपायकम् ।
परिकल्पितं तथा प्रोक्तं प्रोक्तं चैतसिकं तथा ॥ १५॥

---

१. अनागतागतं- क; मनागतागतं- ख ।
२. भीतिश्च- ग,घ ।
३. वेत्ता०-भो० ।
४-४. प्रत्यवेक्षणलज्जा- ख,ग ।
५. सञ्चय०- ग,घ ।
६. संवृतिं स्फुट०- ख ।
७-७. मण्डलाकारा तथैव- क; मन्दाकारस्तथैव- ख; मन्दारस्तथैव- ग,घ ।
८. वामसंज्ञां- क,ख ।
९-९. प्रथ (म) स्वरः- क, प्रथस्वरः- ख ।
१०. आलोको ज्ञान०- ख; आलोके ज्ञानसम्भवम्- ग,घ ।

रागो रक्तं तथा तुष्टं मध्यतुष्टातितुष्टकम् ।
हर्षणं चैव प्रामोद्यं[१] विस्मयो[१] हसितं तथा ॥ १६ ॥

ह्लादनालिङ्गनं[२] चैव तथा चुम्बनचूषणम्[३] ।
धैर्यं[४] वीर्यं च मानश्च कर्तृहर्तृबलानि च ॥ १७ ॥

उत्साहः[५] साहसं चैव तथा चोत्तमसाहसम् ।
मध्यमं साहसं रौद्रं विलासो[६] वैरमेव[६] च ॥ १८ ॥

शुभं[७] च[७] वाक् स्फुटा सत्यमसत्यं निश्चयस्तथा ।
निरुपादानदातृत्वे चोदनं[८] शूरता[८] तथा ॥ १९ ॥

अलज्जा धूर्तदुष्टश्च हठः कुटिल एव च ।
चत्वारिंशत्[९] प्रकृतयः[९] क्षणिकाश्चातिशून्यजाः ॥ २० ॥

दिवापुरुषसंज्ञा च खराकारश्च[१०] दक्षिणः[१०] ।
सूर्यमण्डलसंज्ञा च वज्रसंज्ञा तथैव च ॥ २१ ॥

कला[११] सैव तु विज्ञेया बिन्दुद्वयविभूषिता ।
दिवाकरांशुसङ्काशा आलोकाभासयोगजा ॥ २२ ॥

आलोकस्योपलब्धिश्च उपलब्धं तथैव च ।
परिनिष्पन्नकं चैव अविद्या चैव नामतः ॥ २३ ॥

१-१. प्रामोद्यविस्मयं- ख.ग ।
२. ०लिङ्गणं- क,ख ।
३. ०चूषणे- ग,घ ।
४. वैर्यं- क,ख ।
५. उत्साहं- ख ।
६-६. विलासावैर०- ख ।
७-७. लाभश्च- क; लभं च- ख ।
८-८. चोदनश्च रतं- ग,घ ।
९-९. ०शल्लक्षणाः- भो० ।
१०-१०. खराकारा च दक्षिणा-क; खरदर्शितदक्षिणा-भो० ।
११. काला- ग,घ ।

महाशून्यपदस्यैते पर्याया: कथिता जिनै: ।
मध्यरागक्षणश्चैव विस्मृतिर्भ्रान्तिरेव च ।। २४ ।।

तूष्णींभावश्च खेदश्च आलस्यं[१] दन्धता[१] तथा ।
अविद्याया: क्षणा: सप्त विज्ञेया: सूक्ष्मयोगिभि: ।। २५ ।।

न बीजं बिन्दुसंयुक्तं[२] न वायुर्द्वारनिर्गत: ।
यदालोकोपलब्धं तु तत् परिनिष्पन्नलक्षणम् ।। २६ ।।

एता: प्रकृतय: सूक्ष्मा: शतं[३] षष्ट्युत्तरं[३] दिवा ।
रात्रौ चापि प्रवर्तन्ते वायुवाहनहेतुना ।। २७ ।।

क्षणे लवे मुहूर्त्ते च निमेषे मात्रके तथा ।
क्षण इत्यच्छटावस्था लव: सर्षपवर्तनम्[४] ।। २८ ।।

आश्वासस्तु मुहूर्त्तं स्यान्निमेषोऽक्षिनिमेषणम् ।
मात्रा तु हस्ततालं स्यात् क्षणादीनां तु लक्षणम् ।। २९ ।।

संवित्तिमात्रकं ज्ञानमाकाशवदलक्षणम् ।
किन्तु तस्य प्रभेदोऽस्ति सन्ध्यारात्रिदिवात्मना[५] ।। ३० ।।

आलोकालोकाभासौ च तथालोकोपलब्धकम्[६] ।
चित्तं त्रिविधमित्युक्तम् आधारस्तस्य[७] कथ्यते ।। ३१ ।।

वायुना सूक्ष्मरूपेण ज्ञानं सम्मिश्रतां गतम् ।
नि:सृत्येन्द्रियमार्गेभ्यो विषयानवलम्बते[८] ।। ३२ ।।

१-१. आलस्येदध्वता-ख; ०बद्धता- ग; ०बन्धता- घ ।
२. बीजसंयुक्तं- ग,घ ।
३-३. शतषष्ट्युत्तरं- ग.घ ।
४. सर्षपप्रवर्तनम्- क,ग,घ; सर्षपवत्तनम्- ख ।
५. ०दिवात्मन:- क ।
६. ०लब्धिकम्- ग,घ ।
७. प्रतिपत्ति:- भो० ।
८. विषयानवलम्बने- क,ख ।

आभासेन यदा युक्तो[१] वायुर्वाहनतां गतः ।
तदा तत्प्रकृतीः सर्वा अस्तव्यस्ताः[२] प्रवर्तयेत् ॥ ३३॥

यत्र यत्र स्थितो वायुस्तां तां प्रकृतिमुद्वहेत् ।
यावत् समीरणोत्पादो[३] नाभासो निश्चलो भवेत् ॥ ३४॥

आभासद्वयहेतुः स्यादात्मभावविकल्पना ।
उभयांशिकमेव स्याद् यदालोकोपलब्धकम्[४] ॥ ३५॥

सर्वासामेव मायानां स्त्रीमायैव विशिष्यते ।
ज्ञानत्रयप्रभेदोऽयं स्फुटमत्रैव लक्ष्यते ॥ ३६॥

रागश्चैव विरागश्च द्वयोरन्तरिति[५] त्रयम्[५] ।
द्वीन्द्रियस्य समापत्त्या वज्रपद्मसमागमात् ॥ ३७॥

ज्ञानद्वयसमायोगः समापत्तिः प्रकीर्तिता ।
ज्ञानद्वयसमापत्त्या यथोक्तकरणेन तु ॥ ३८॥

यज्ज्ञानं प्राप्यते यत्नात् तदालोकोपलब्धकम् ।
यस्य वज्राब्जसंयोगः संवृत्या तु न विद्यते ॥ ३९॥

सिध्यते योगसामर्थ्यात् सकृदप्यनुभूतवान् ।
यथा प्रभेदं विज्ञाय ज्ञानवृत्तिं स्वभावतः ॥ ४०॥

लक्षयेत् सततं योगी तामेव प्रकृतिं पुनः ।
पयोधरा यथा नैके नानासंस्थानवर्णकाः ॥ ४१॥

---

१. युक्ते-ग,घ ।
२. अशेषनिःशेषाः- भो० ।
३. ०त्पाहो- ख; ०णोत्साहो-ग,घ ।
४. ०लब्धिकम्-ग,घ; यथालोकोप०- भो० ।
५-५. द्वयोरन्तरितत्रयम्- ख,ग ।

उद्भूता गगनाभोगाल्लयं गच्छन्ति तत्र वै ।
एवं प्रकृतयः सर्वा आभासत्रयहेतुकाः ॥ ४२ ॥

निर्विश्य विषयान् कृत्स्नान् प्रविशन्ति प्रभास्वरम् ।
एषां स्वभावाविज्ञानादज्ञानपटलावृताः ॥ ४३ ॥

कृत्वा शुभाशुभं कर्म भ्रमन्ति गतिपञ्चके ।
आनन्तर्यादिकं कृत्वा नरकेषु विपच्यते[१] ॥ ४४ ॥

शुभं दानादिकं कृत्वा स्वर्गादिषु[२] महीयते ।
अनन्तजन्मसाहस्रं प्राप्य चैवं पुनः पुनः ॥ ४५ ॥

पूर्वकर्मविपाकोऽयमिति शोचति मोहतः ।
प्रकृत्याभासयोगेन[३] येन क्लिश्यन्ति जन्तवः ॥ ४६ ॥

ज्ञात्वा तमेव मुच्यन्ते ज्ञानिनो भवपञ्जरात् ।
प्रज्ञास्वभाव एवायं चन्द्रमण्डलकल्पना ॥ ४७ ॥

चित्तमेव[४] स्वयं पश्येत् स्वमेव[५] शशिबिम्बवत् ।
अथ चन्द्रं समालम्ब्य[६] वज्रचिह्नं प्रकल्पयेत् ॥ ४८ ॥

उपायसूचकं ह्येतद् वज्राद्युत्पत्तियोगिनाम् ।
चन्द्रवज्रादिसंयोगश्चित्तचैतससङ्गमः[७] ॥ ४९ ॥

प्रज्ञोपायसमायोगाज्जायते देवताकृतिः ।
चतुर्मुद्राभिरामुद्र्य देवतागर्वमुद्वहन् ॥ ५० ॥

---

१. विपश्यते- क; नरके प्रविपच्यते-ग,घ ।
२. सर्वगादिषु- क ।
३. प्रकृत्याभासरूपेण- भो० ।
४. चित्तमेवं- क ।
५. स्वयमेव- ख ।
६. समालभ्य- ख ।
७. चन्द्रवज्रादिसंयोगाच्चित्तचैतिकसङ्गमः- ग,घ ।

विचरेत् तु सदा मन्त्री उत्पत्तिक्रमयोगवान् ।
यथोक्तं **श्रीसमाजादौ** तत्र तत्र सुविस्तरम् ।। ५१ ।।

यावत् स्याद् भावनायोगस्तावत्[१] स्यादादिकर्मिकः ।
परिनिष्पन्नयोगस्य सूचना क्रियतेऽधुना ।। ५२ ।।

शून्यत्रयविशुद्धिर्या[२] प्रभास्वरमिहोच्यते ।
सर्वशून्यपदं तच्च ज्ञानत्रयविशुद्धितः ।। ५३ ।।

ज्ञानशुद्धिपदं तत्त्वं सर्वज्ञत्वमनुत्तरम्[३] ।
निर्विकारं निराभासं निर्द्वन्द्वं परमं शिवम् ।। ५४ ।।

अस्तीति न च नास्तीति न च तद् वाक्यगोचरम् ।
अतः प्रभास्वराच्छुद्धाज्ज्ञानत्रयसमुद्भवः ।। ५५ ।।

द्वात्रिंशल्लक्षणधरो ह्यशीतिव्यञ्जनान्वितः ।
सर्वाकारवरोपेतः सर्वज्ञो जायते ततः ।। ५६ ।।

तथा चोक्तं महायानसूत्रे **ललितविस्तरे** ।
अभिसम्बोधिकामोऽयं शाक्यसिंहस्तथागतः ।। ५७ ।।

महाशून्येन बुद्धत्वं प्राप्स्यामीत्यभिमानतः ।
नैरञ्जनानदीतीरे निष्पाद्यास्फानकं[४] गतः[५] ।। ५८ ।।

तिलबिम्बीव[६] सम्पूर्णाः खमध्यस्था[७] जिनास्तदा ।
एकस्वरेण तं प्राहुरच्छटेन जिनौरसम् ।। ५९ ।।

---

१. ०भावयोग०- ग,घ ।
२. ०र्यो- ख ।
३. ०मनुत्तरः- ख ।
४. निषद्यास्फानकं-ग,घ ।
५. रतः- ग.घ ।
६. तिलबिम्बीवत्- ग,घ ।
७. खमध्यस्थो- ख,ग; खवज्र०- भो० ।

अविशुद्धमिदं ध्यानं न चैतदिष्टकावहम्[१] ।
प्रभास्वरं तु आलम्ब्यमाकाशतलवत् परम् ॥ ६० ॥

प्रभास्वरपदे प्राप्ते स्वेच्छारूपस्तु जायसे[२] ।
सर्वैश्वर्यं तथा[३] प्राप्य[४] वज्रकाये प्रमोदसे ॥ ६१ ॥

एवं श्रुत्वा तु तं शब्दं विसर्ज्यास्फानकं[५] ततः ।
निशार्धसमये तत्त्वमालम्ब्यैव[६] जिनौरसः[७] ॥ ६२ ॥

ऋजुकेनैव[८] कायेन वाचाय[९] ऋजुरेव च[९] ।
साशनो[१०] नाशनो[१०] नैव न मौनी नाप्यमौनवान् ॥ ६३ ॥

नोन्मीलितसुनेत्रस्तु[११] न च मीलितलोचनः[१२] ।
स्वच्छं व्यक्तं महाज्ञानं सर्वशून्यं महाद्भुतम् ॥ ६४ ॥

अथ[१३] पश्यति[१३] तद्व्यक्तं गुरुपादप्रसादतः ।
अनागतमतीतं च वर्तमानं भवत्रयम्[१४] ॥ ६५ ॥

तत्क्षणान्निखिलं पश्येत् प्रभास्वरविशुद्धधृक् ।
जलचन्द्रमरीच्यादिमायागुणविभूषितः ॥ ६६ ॥

---

१. ०दिष्ठका०- ख; ०दिष्टिका०- ग,घ ।
२. जायते-ख,ग,घ ।
३. तदा- ग,घ ।
४. प्राप्ये- ख ।
५. विष्ज्या- क; विष्ज्यो-ख,ग ।
६. ०मालब्यैव- ख ।
७. जिनौरसम्- ग,घ ।
८. ऋजुनैव च- ग,घ ।
९-९. न चाप्यनृजुरेव च- ग,घ ।
१०-१०. सासनोऽनाशनो- ख; साश्वासोऽनाश्वासो- भो० ।
११. ०मीलितनेत्रश्च- ग,घ ।
१२. ०लोचनाः- ग,घ ।
१३-१३. अथापश्यति-ग,घ ।
१४. भवत्रये- ख,ग,घ ।

अरुणोद्गमकाले तु वज्रोपमसमाधिना ।
निषद्य बोधिमूले तु सोऽकरोन्मारभञ्जनम् ॥ ६७॥

सम्प्राप्य शाक्यनाथेन तत्त्वज्ञानमनुत्तरम्[१] ।
जगत्त्रयहितार्थाय[२] तदेवेह प्रदर्शितम् ॥ ६८॥

तत्त्वज्ञानमिति प्रोक्तमभिसम्बोधिदर्शनम् ।
पञ्चानन्तर्यकर्मा च मन्दपुण्योऽपि यो नरः ॥ ६९॥

गुरुप्रसादादाप्नोति चिन्तामणिरिवापरम्[३] ।
यथेष्टं कुरुते चर्यां[४] संबुद्धोऽयमनागतः ॥ ७०॥

न रागो न विरागश्च मध्यमा[५] नोपलभ्यते[५] ।
न शून्यं नापि चाशून्यं मध्यमा[६] नोपलभ्यते[६] ॥ ७१॥

सर्वबुद्धसमायोग इदमेव प्रदर्शितम् ।
त्रिज्ञानाद् व्यतिरिक्तं यत् तत्त्वं सन्ध्याय भाषया ॥ ७२॥

अभावेत्यादिगाथाभिः पटले बोधिचित्तके ।
श्रीसमाजेऽपि[७] तत्[७] प्रोक्तमभिसम्बोधिलक्षणम् ॥ ७३॥

रागादीनां विशुद्धिर्या[८] **परमाद्ये**[९] प्रदर्शिता ।
सर्वशून्यं समुद्दिश्य साऽपि प्रोक्ता तथागतैः ॥ ७४॥

---

१. ज्ञानत्रयमनुत्तरम्- ग,घ ।
२. जगत्त्राणहितार्थाय- भो० (सक्ष्मीङ्कराप्रणीता टीका) ।
३. ०मणिमिवा०- ग,घ ।
४. चर्या- ग,घ ।
५-५. मध्यमेनोप०- क० ।
६-६. मध्यमेनोप०-क ।
७-७. श्रीसमाजेऽप्येतत्- क ।
८. ०र्यो- ख,ग ।
९. परमार्थे- क ।

नानासूत्रेषु तन्त्रेषु यत् तत्त्वमुपदर्शितम् ।
सर्वशून्यपदं ह्येतन्नान्यत् तत्राभिधीयते ।। ७५ ।।

चतुरशीतिसाहस्रे धर्मस्कन्धे महामुनेः ।
सारात् सारतरं प्रोक्तम् अभिसम्बोधिलक्षणम् ।। ७६ ।।

जटी नग्नश्च मुण्डी वा शिखिनिःसङ्गवृत्तयः[१] ।
तैस्तैश्च विविधैर्लिङ्गैरभिसम्बोधिकामिनः ।। ७७ ।।

तेषां तत्त्वविहीनानां व्रतचर्यादिकः क्रमः ।
तत्त्वज्ञानविहीनत्वात् तेन मुक्तिर्न लभ्यते ।। ७८ ।।

आदिकर्मिकयोगेन चाष्टमीं भूमिमाप्नुयात् ।
आलोकत्रयदर्शी[२] च दशभूम्यां प्रतिष्ठितः ।। ७९ ।।

सम्प्राप्य ह्यभिसम्बोधिं शुद्धावासमुपागतः ।
बुद्धक्षेत्रेष्ववैवर्ती सर्वज्ञ इह जन्मनि[३] ।। ८० ।।

धर्मोदयाभिसम्बोधिः क्रीडारागादिविस्तरैः ।
धर्मधात्वभिसमबोधिर्यथालाभविचेष्टितैः ।। ८१ ।।

अनुत्तराभिसम्बोधिरभिसम्बोधियोगतः ।
प्रपञ्चाकारादिचर्याभि[४]रभ्यस्यन्तीह[५] योगिनः ।। ८२ ।।

आः किमभ्यासयोगेन आदिशुद्धिः[६] स्वभाविका ।
प्रकृत्यैव हि सा सिद्धा तथता न विकल्पजा ।। ८३ ।।

---

१. ०निःसङ्गवृत्यः- क ।
२. ०त्रयदिर्शि- क ।
३. जन्मिनि- ग,घ ।
४. प्रपञ्चकादिचर्याभि०- ग,घ ।
५. ०रत्यस्यन्तीह- ख,ग ।
६. नाडिशुद्धिः- क ।

य एवं कल्पयन्तीह ज्ञानक्रममपास्य वै ।
तत्प्रभेदमजानानाः पुनः शैक्षा भवन्ति ते ॥८४॥

प्रकृत्याभासभेदज्ञा चतुर्थं[१] तत्त्वमाश्रिताः ।
त्रिधा नाभ्यस्यते यस्तु न शीघ्रमाप्नुयात्[२] फलम् ॥८५॥

यथाग्निर्दारुगर्भस्थो[३] नोत्तिष्ठेन्मथनाद् विना ।
तथाभ्यासाद् बिना बोधिर्जायते नेह जन्मनि ॥८६॥

यः शाठ्यबुद्धिरलसो गुरुनिन्दकश्च
प्राप्ताभिषेक इति गर्वितमानसः स्यात् ।
सर्वज्ञता न सुलभेति विहीनचित्तो
दोषान् स[४] पश्यति[४] गुरोर्न गुणान् वराकः॥८७॥

सुश्रूषया विरहितो लघु तत्त्वमिच्छेन्
नेति प्रशस्तवचनं चलयेत्* सरोषः ।
दृष्ट्वा सभासु[५] गुरुमस्य[५] पराङ्मुखस्तु
कुर्यात् प्रणाममथ तस्य रहोगतस्य ॥८८॥

एवं च दौरात्म्यगतं[६] कुशिष्यम्
[७]स्वपुत्रमप्यौरसमार्यगर्ह्यम्[७] ।
वैश्यं तथा पार्थिवमग्रबोधिं[८]
कुर्यात् समीपे न हि जातु धीरः[९] ॥८९॥

---

१. ०चतुर्थ- ग,घ ।
२. 'शीघ्रम्' इति भोटपाठे नास्ति ।
३. ०मध्यस्थो- ग,घ, सुभाषितसङ्ग्रहः ।
४-४. प्रपश्यति- ग,घ ।
* 'चल'-इत्यनन्तरं ग-घ-पुस्तकयोः कतिपयपत्राणि त्रुटितानि ।
५-५. सभास्वगुरुमस्य- क,ख ।
६. दौरात्म्यहतं-सुभाषितसंग्रहः ।
७-७. ०मार्यागुह्यम्- ख; ०मारयगुह्यम्-क; स्वपुत्रमन्यादृशवत् परित्यजेत्- भो० ।
८. ०मग्रजं वा-सुभाषितसंग्रहः ।
९. वीरः-सुभाषितसंग्रहः ।

शुभगुणसुसमेतो ज्ञानवान् वीर्ययुक्तो
गुरुजनमथ भक्त्या वीक्षते[१] बुद्धतुल्यम् ।
अधिगतजिनधर्मः शासनेषु प्रसन्नः
स इह भवति पात्रं तस्य कुर्यात् प्रसादम् ।। ९० ।।

श्रुतबहुतरतन्त्रोऽप्यागमेषु[२] प्रवीणो[२]
गुरुजनपरिचर्याहान्यलब्धोपदेशः[३] ।
स्वहितमपि स कर्तुं न प्रभुः शास्त्रचञ्चु-
र्भवति तदपि शास्त्रं केवलं खेदहेतुः[४] ।। ९१ ।।

अथ भवति सभाग्यः प्राप्ततत्त्वोपदेशो
जडमतिरसमर्थो[५] मीलनेऽर्थस्य यस्तु[६] ।
परहितकृतबुद्धिर्देशनायां प्रवृत्तो
वचनगुणविहीनः सोऽप्यवज्ञामुपैति ।। ९२ ।।

श्रुतबहुतरतन्त्रो ज्ञानवान् षट्पदज्ञः
स्मृतिमतिधृतिमेधावीर्यसम्पत्समेतः ।
गुरुचरणसपर्याप्राप्ततत्त्वोपदेशः[७]
प्रभवति स हि वक्तुं तन्त्रराजोपदेशम् ।। ९३ ।।

श्रुतबहुतरतन्त्रेणार्यवज्रिप्रसादात्[८]
स्फुटविरचितवाचा बोधिमार्गं विभज्य ।

---

१. वीक्ष्यते-सुभाषितसंग्रहः ।
२. आगमेष्वप्रवीणो- क,ख; आगमे सुप्रवीणो-सुभाषितसंग्रहः ।
३. ०चर्या प्राप्ततत्त्वोपदेशः-सुभाषितसंग्रहः ।
४. खेदहेतुम्- क,ख ।
५. जरमति०- क,ख ।
६. यस्य तु- क ।
७. गुरुजनपरिचर्या०-सुभाषितसंग्रहः ।
८. ०वज्री०- क ।

कुशलमुपचित्तं **यच्छाक्यमित्रेण** तेन
प्रकटपटुविपाकाद् बोधिभाजो भवन्तु ।। इति। ९४।।

अनुत्तरसन्धिरित्यपरनामा

।। सर्वशुद्धिविशुद्धिक्रमः समाप्तः।।

कृतिरियं शाक्यमित्रपादानाम् । ग्रन्थप्रमाणमस्य शतमेकम् । द्वितीयः क्रमः ।

•

अत्युद्गाढरयस्थिराकृतिघनध्वानभ्रमन्मन्दर-
क्षुब्धधीरधिवीचिसञ्चयगतप्रालेयपादोपमः ।
श्रीमत्पोतलके गभीरविवृतिध्वानप्रतिध्वानिते
सान्द्रस्वांशुचयश्रिया वलयितो लोकेश्वरः पातु वः ।।

(सुभाषितरत्नकोशे विद्याकरः)

[३]

स्वाधिष्ठानक्रमः[१] तृतीयः[१]

नमः श्रीवज्रगुरवे[१]

प्रणिपत्य वरं[२] वज्रं[२] वज्रसत्त्वादिनायकम्[३] ।
स्वाधिष्ठानक्रमश्चैव वक्ष्यते कृपया मया ।। १ ।।

प्रथमतरं तावद् उत्पत्तिक्रमानुसारेण प्राप्ताभिषेकश्चतुर्विधतन्त्राभिप्रायज्ञः [४]प्राप्तकायवाक्चित्तविवेकः श्रुतिधरः[४] सत्यद्वयाधिमोक्षो[५] वज्रगुरुं सम्यग् आराध्य, ततः प्रसन्नाय गुरवे महतीं गणपूजां कृत्वा षोडशाब्दिकां मुद्रां[६] महावज्रगुरवे दत्वा, तदनन्तरं गुरुवक्त्राद् आप्तस्वाधिष्ठानक्रमोपदेशः, ततो [७]मालोदकसम्बुद्धवज्रघण्टा-दानदर्पणनामाचार्यानुज्ञा[७] इत्येभिः सह गुह्याभिषेकं लब्ध्वा एभिः[८] शास्तारं[८] गुरुं स्तूयात् :

शौषीर्यं नास्ति ते काये मांसास्थिरुधिरं न च ।
इन्द्रायुधमिवाकाशे कायं दर्शितवानसि ।। २ ।।

नामया नाशुचिः काये क्षुत्तृष्णासम्भवो न च ।
त्वया लोकानुवृत्त्यर्थं दर्शिता लौकिकी क्रिया ।। ३ ।।

दकचन्द्रवदग्राह्य सर्वधर्मेष्वनिश्रित ।
अनहङ्कार निर्मोह निरालम्ब नमोऽस्तु ते ।। ४ ।।

१-१. आधारपुस्तकेषु नास्ति ।
२-२. महावज्रं- भो० ।
३. सर्ववज्रिविनायकम्- भो० ।
४-४. प्रज्ञायुक्तः कायवाक्चित्तविवेकश्रुतिधरः- भो० ।
५. सत्यद्वयाधिमोक्षेण- भो० (दे-गेसंस्करणम्) ।
६. नास्ति- भो० ।
७-७. मालोदकसम्बुद्धवज्रवज्रघण्टादर्पणेन आचार्यानुज्ञा-क ।
८-८. एभिः शास्त्रां- क; एभिः स्तोत्रैः- भो० ।

सदा समाहितश्चासि गच्छंस्तिष्ठन् स्वपंस्तथा ।
ईर्ष्यापथेषु सर्वेषु निरालम्ब नमोऽस्तु ते ॥ ५ ॥

विकुर्वसि महाऋद्ध्या मायोपमसमाधिना ।
निर्नानात्वं समापन्न निरालम्ब नमोऽस्तु ते ॥ ६ ॥

एवं वज्रगुरं सद्भूतगुणेन संस्तुत्य श्रवणार्थम् अध्येषयेद् अनया गाथया :

सर्वज्ञ ज्ञानसन्दोह भवचक्रविशोधक ।
अद्य[१] व्याख्यानरत्नेन प्रसादं कुरु मे विभो ॥ ७ ॥

त्वत्पादपङ्कजं मुक्त्वा नास्त्यन्यच्छरणं विभो ।
तस्मात् प्रसीद बुद्धाग्र[२] जगद्वीर महामुने ॥ ८ ॥

एवं श्रुत्वा तु तद् वाक्यम् अध्येषणविशारदम् ।
शिष्यकारुण्यमुत्पाद्य स्वाधिष्ठानमथारभेत् ॥ ९ ॥

स्वाधिष्ठानक्रमो नाम संवृतेः सत्यदर्शनम् ।
गुरुपादप्रसादेन लभ्यते तच्च नान्यथा ॥ १० ॥

स्वाधिष्ठानक्रमो येन साधकेन[३] न लभ्यते ।
सूत्रान्ततन्त्रकल्पेषु वृथा तस्य परिश्रमः ॥ ११ ॥

स्वाधिष्ठानक्रमं लब्ध्वा सर्वबुद्धमयः प्रभुः ।
जन्मनीहैव बुद्धत्वं निःसन्देहं प्रपद्यते ॥ १२ ॥

स्वाधिष्ठानसमाधिश्च प्रभास्वरपदं तथा ।
सत्यद्वयमिति ख्यातं फलहेतुविशेषतः ॥ १३ ॥

---

१. अद्यं- ख ।
२. बुद्धयग्र- भो० (दे-गेसंस्करणम्) ।
३. नास्ति- भो० ।

स्वाधिष्ठानानुपूर्वेण प्राप्यते हि प्रभास्वरम् ।
तस्माद् वज्रगुरुः पूर्वं स्वाधिष्ठानं प्रदर्शयेत् ।। १४।।

अस्वतन्त्रं जगत् सर्वं स्वतन्त्रं नैव जायते ।
हेतुः प्रभास्वरं तस्य सर्वशून्यं प्रभास्वरम् ।। १५।।

येन चित्तेन बालाश्च[१] संसारे बन्धनं गताः ।
योगिनस्तेन चित्तेन सुगतानां गतिं[२] गताः[२] ।। १६।।

न चात्रोत्पद्यते कश्चिन् मरणं[३] नापि कस्यचित् ।
संसार एव ज्ञातव्यश्चित्तरूपाकृतिष्ठितः ।। १७।।

वायुयोगाद् विना चित्तस्वरूपं नैव गृह्यते ।
चित्तात् प्रकृतिहेतुत्वात् कर्मजन्मसमुद्भवः ।। १८।।

तदेव वायुसंयुक्तं विज्ञानत्रितयं पुनः ।
जायते योगिनां[४] मूर्त्तिर्मायादेहस्तदुच्यते ।। १९।।

तस्मादेव जगत् सर्वं मायोपम इहोच्यते ।
मायोपमसमाधिष्ठः सर्वं पश्यति तादृशम् ।। २०।।

रूपं च वेदना चैव संज्ञा संस्कार एव च ।
विज्ञानं पञ्चमं चैव चत्वारो धातवस्तथा ।। २१।।

अक्षाणि[५] विषयाश्चैव ज्ञानपञ्चकमेव च ।
अध्यात्मबाह्यतो[६] भिन्नं[६] सर्वं मायैव नान्यथा ।। २२।।

---

१. बालश्च- ख ।
२-२. पदं गताः- भो० ।
३. सरणं- क,ख ।
४. योगिना- क,ख ।
५. सप्तानि- ख ।
६-६. ०बाह्यतोऽभिन्नं- क ।

दर्पणप्रतिबिम्बेन मायादेहं च लक्षयेत्[1] ।
वर्णान् इन्द्रायुधेनेव व्यापित्वमुदकेन्दुना ॥ २३ ॥

दर्पणे विमले व्यक्तं दृश्यते प्रतिबिम्बवत् ।
भावाभावविनिर्मुक्तो वज्रसत्त्वः सुचित्रितः ॥ २४ ॥

सर्वाकारवरोपेतो असेचनकविग्रहः ।
दर्शयेत् तं सुशिष्याय स्वाधिष्ठानं तदुच्यते ॥ २५ ॥

इयमेव हि संलक्ष्या माया निर्दोषलक्षणा[2] ।
मायैव संवृतेः सत्यं कायः साम्भोगिकश्च[3] सः ॥ २६ ॥

सैव गन्धर्वसत्त्वः स्याद् वज्रकायः स एव हि ।
वज्रसत्त्वः स्वयं तस्मात् स्वस्य पूजां प्रवर्तयेत् ॥ २७ ॥

आत्मा वै सर्वबुद्धत्वं सर्वसौरित्वमेव च ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन ह्यात्मानं पूजयेत् सदा ॥ २८ ॥

मन्त्रमुद्राप्रयोगं च मण्डलादिविकल्पनम्[4] ।
बलिहोमक्रियां[5] सर्वां कुर्यान् मायोपमां सदा ॥ २९ ॥

शान्तिकं पौष्टिकं चापि तथा वश्याभिचारिकम्[6] ।
आकर्षणादि यत् सर्वं कुर्याद् इन्द्रायुधोपमम् ॥ ३० ॥

शृङ्गाराद्युपभोगं च गीतवाद्यादिसेवनम् ।
कलासु च प्रवृत्तिं च कुर्याद् उदकचन्द्रवत् ॥ ३१ ॥

---

१. लक्ष्येत- क ।
२. निर्देष०- क ।
३. साम्भोगैश्च- क,ख ।
४. मण्डदि०- क,ख ।
५. बलिहोमादिकां- भो० ।
६. ०भिचारकम्- कः, ०चारुकम्- ख ।

रूपे शब्दे तथा गन्धे रसे स्प्रष्टव्य एव च ।
चक्षुरादिप्रवृत्तिं च मायावद् उपलक्षयेत्[१] ।। ३२ ।।

बहुनाऽत्र किमुक्तेन वज्रयाने[२] तु तत्त्वतः ।
यद् यद् आलम्बयेद् योगी तद् तद् मायैव[३] कल्पयेत् ।। ३३ ।।

दर्पणे प्रतिबिम्बं च स्वप्नं मायां च बुद्बुदम् ।
इन्द्रजालं[४] च सादृश्यं यः पश्येत् स प्रभुः स्मृतः ।। ३४ ।।

दृश्यते स्पृश्यते चैव यथा माया जगत् सदा ।
न चोपलम्भः संवृत्या मायावत् परिकीर्तितः ।। इति । ३५ ।।

यद् यद् इन्द्रियमार्गत्वं माया[५] तत्तत् स्वभावतः ।
असमाहितयोगेन[६] सर्वं बुद्धमयं वहेत् ।। ३६ ।।

सर्वत्र सर्वतः सर्वं सर्वथा सर्वदा स्वयम् ।
सर्वबुद्धमयं सिद्धं स्वमात्मानं स पश्यति ।। ३७ ।।

गच्छंस्तिष्ठन् महासत्त्वः सर्वसौख्यमयः प्रभुः ।
विहाराहारपानादीनाकाशाल्लभते[७] क्षणात् ।। ३८ ।।

भवेयुर्भवच्छेत्तारः शास्तारः[८] प्रवरे जने ।
पूज्यन्ते ससुरैः सर्वैः प्रणिपत्य मुहुर्मुहुः ।। ३९ ।।

---

१. उपलक्ष्येत- क ।
२. वज्रयोगे-क; वज्रयोने- ख ।
३. आत्मैव- क,ख ।
४. इन्द्रपालं- क; इन्द्रयालं- ख ।
५. नास्ति- भो० ।
६. सुसमाहितयोगेन- क,ख ।
७. विहाराहारवसनादीना०- भो० ।
८. नास्ति- क,ख ।

यथा शास्तरि सम्बुद्धे लोकयात्राहितैषिणि ।
एवमेव महायोगी विश्वज्ञानार्थसङ्ग्रहाद् ॥ ४० ॥

नास्ति[१] किञ्चिद् असाध्यं वै वज्रसत्त्वेन लक्षितम् ।
स्वयं प्रत्यनुसिध्यन्ति सर्वमुद्रा[२] महासुखाः ॥ ४१ ॥

क्लेशाः कर्मपथा देहः कर्तारश्च फलं च वै ।
मरीचिस्वप्नसङ्काशा गन्धर्वनगरोपमाः ॥ ४२ ॥

इमं समाधिमज्ञात्वा संवृतावुपलम्भतः ।
जायन्ते विविधा रोगास्तेषां माया भिषग्जितम् ॥ ४३ ॥

स्वाधिष्ठानोपदेशस्तु येन नासाद्यते गुरोः ।
शाश्वतोच्छेदमालम्ब्य स वैवर्ती भवेत् पुनः[३] ॥ ४४ ॥

सर्वपूजां परित्यज्य गुरुपूजां समारभेत् ।
तेन तुष्टेन तल्लभ्यं सर्वज्ञज्ञानमुत्तमम् ॥ ४५ ॥

किं तेन न कृतं पुण्यं किं वा नोपासितं तपः ।
अनुत्तरकृदाचार्यवज्रसत्त्वप्रपूजनात्[४] ॥ ४६ ॥

यद् यदिष्टतरं किञ्चिद् विशिष्टतरमेव च ।
तत् तद्धि गुरवे देयं तदेवाक्षयमिच्छता ॥ ४७ ॥

आचार्यो हरते पापम् आचार्यो हरते भयम् ।
आचार्यस्तारयेत्[५] पारं दुःखार्णवमहाभयात्[६] ॥ ४८ ॥

---

१. नाम्नि- ख ।
२. महामुद्रा०- भो० ।
३. नरः- भो० ।
४. अनुत्तरकृताचार्य०-सुभाषितसङ्ग्रहः ।
५. ०तार्यते-सुभाषितसंग्रहः ।
६. ०'इति' इत्यधिकः पाठः-सुभाषितसंग्रहे ।

योऽहङ्कार(म)-लालिप्तः[१] सद्भूतक्रमधर्षकः[२] ।
सावज्ञस्तत्त्वधर्मेषु तस्य तत्त्वं न दर्शयेत् ॥४९॥

सत्यवाग्गुरुभक्तश्च विविक्तश्चैकसन्धिकः ।
समयाचाररक्षी च क्रमं तस्य प्रदर्शयेत् ॥५०॥

॥ स्वाधिष्ठानक्रमस्तृतीयः समाप्तः ॥

कृतिरियमाचार्यनागार्जुनपादानाम् । ग्रन्थप्रमाणमस्य षट्पञ्चाशत् ।

•

---

१. ०(क) लालिप्तः- क ।
२. ०दूषकः- ख ।

न सत्या नासत्या न च तदुभयी नाप्यनुभयी
निरुल्लेखा सर्वाकृतिवरमयी मध्यमकधीः ।
जिनः शास्ता सैव स्थिर-चलजगत्तत्त्वमपि सा
स्वसंवित्तिर्देवी जयति सुखवज्रप्रणयिनी ।।

(अमृतकणिकाभिधायां नामसंगीतिटीकायाम्, रविश्रीः)

[४]

अभिसम्बोधिक्रमः[१] चतुर्थः[१]

नमः श्रीवज्रसत्त्वाय[१]

वज्रसत्त्वं नमस्कृत्य सर्वशून्योपदेशकम् ।
चतुर्थो ह्यभिसम्बोधिक्रमोऽयं वक्ष्यते मया ॥ १॥

[२]असौ स्वयम्भूर्भगवान् एक एवाधिदैवतः[२] ।
उपदेशप्रदानात् तु वज्राचार्योऽधिकस्ततः ॥ २॥

तत्समाराधनं कृत्वा वर्षं मासमथापि वा ।
तस्मै तुष्टाय गुरवे पूजां कुर्यात् तु शक्तितः ॥ ३॥

यथास्वभावतो[३] मुद्रां निवेद्यास्मै सुशिक्षिताम् ।
गणमण्डलमध्ये तु कुर्यात् पूजां यथाविधि ॥ ४॥

ततस्तुष्टो महायोगी पञ्चकामोपभोगतः ।
आलोकस्योदयं कुर्यात् समापत्तिविधानतः ॥ ५॥

कलशादौ[४] सुसंस्थाप्य बोधिचित्तं प्रयत्नतः ।
अर्धरात्रे चाभिसिञ्चेत् सुशिष्यं कृपया गुरुः ॥ ६॥

अभिषेकं तु सम्प्राप्य प्रत्यूषसमये पुनः ।
सम्पूज्याराधयेत् स्तोत्रैर्गुरुं शिष्यः कृताञ्जलिः ॥ ७॥

१-१. आधारपुस्तकेषु नास्ति ।
२-२. असन् स्वय(म्बु)र् भगवानेकेवाधिदैवतः-सुभाषितसंग्रहः ।
३. यथा स भवतो- क,ख ।
४. कलशादन्- क ।

त्रैधातुकविनिर्मुक्त आकाशसमतां गतः ।
नोपरिष्यसि[१] कामेषु निरालम्ब नमोऽस्तु ते ॥ ८ ॥

अनिःश्रितोऽसि स्कन्धेषु धातुष्वायतनेषु च ।
विपर्यासविनिर्मुक्त[२] निरालम्ब नमोऽस्तु ते ॥ ९ ॥

अविकल्पितसङ्कल्प अप्रतिष्ठितमानस ।
अचिन्त्यमनसिकार निरालम्ब नमोऽस्तु ते ॥ १० ॥

अनालयं यथाकाशं निष्प्रपञ्चं निरञ्जनम् ।
आकाशसमचित्तोऽसि निरालम्ब नमोऽस्तु ते ॥ ११ ॥

द्रष्टुकामोऽभिसम्बोधिं सर्वशून्यस्वभाविकाम् ।
स्तुत्वा कृताञ्जलिः शिष्यो गुरुं सञ्चोदयेत् पुनः ॥ १२ ॥

प्रयच्छ मे महानाथ अभिसम्बोधिदर्शनम् ।
कर्मजन्मविनिर्मुक्तम् आभासत्रयवर्जितम् ॥ १३ ॥

प्रयच्छ मे महाचार्य वज्रज्ञानमनुत्तरम् ।
सर्वबुद्धमहाज्ञानं सर्वताथागतालयम् ॥ १४ ॥

प्रयच्छ मे महावज्र कायवाक्चित्तशोधनम् ।
अनादिनिधनं शान्तं सर्वक्लेशविशोधनम् ॥ १५ ॥

एवमाराधितो योगी सद्भूतगुणकीर्तनैः ।
शिष्ये कारुण्यमुत्पाद्य क्रममेवमथारभेत् ॥ १६ ॥

आलोको रात्रिभागः स्फुटरविकिरणः स्याद् दिवालोकभासः ।
सन्ध्यालोकोपलब्धः प्रकृतिभिरसकृद् युज्यते स्वाभिरेतत् ।

---

१. नोपरंस्यसि-इति समुचितः पाठः प्रतीयते ।
२. विपर्यासविनिर्मुक्तो- क ।

नो रात्रिर्नापि सन्ध्या न च भवति दिवा यः प्रकृत्या[१] विमुक्तः[१]
स स्याद् बोधिक्षणोऽयं[२] वरगुरुकथितो योगिनामेव गम्यः ।।१७।।

नैशं[३] ध्वान्तं विनष्टं व्यपगतमखिलं सान्ध्यतेजस्तु यस्मिन्[३]
भास्वान्नोदेति यावत् क्षण इह विमले दर्शयेद् भूतकोटिम् ।

शिष्यायाचार्यमुख्यो विनिहततिमिरो बाह्यसम्बोधिदृष्ट्या
प्राप्नोत्यध्यात्मसौख्यं व्यपगतकलुषं बुद्धबोधिं क्षणेन ।। १८ ।।

अनादिभूतं[४] त्वथवादिभूतं
अमध्यभूतं त्वथ मध्यभूतम् ।
अनन्तभूतं त्वथवान्तभूतं
तत् सर्वशून्यं प्रवदन्ति सन्तः ।। १९ ।।

गमनागमनं च यत्र नास्ति
क्षयवृद्धी न चाप्यभावभावौ[५] ।
[६]अतिविस्मयरूपम् अरूप्यविस्मयं[६]
स्थितिमन्नापि[७] न चापि गत्वरम्[८] ।। २० ।।

यदस्ति-नास्तिव्यवहारमुक्तं
न पुण्यरूपं न च पापरूपम् ।
न पुण्यपापात्मकमग्रभूतं
तत् सर्वशून्यं प्रवदन्ति बुद्धाः ।। २१ ।।

१-१. प्रकृत्योभिमुक्तः- ख ।
२. बोधिसत्त्वक्षणो- क,ख ।
३-३. सन्ध्यान्तं नो विनष्टं व्यपगतमखिलं ध्वान्तव्यूहस्तु यस्मिन्- भो०; ०विनस्तं०- क,ख ।
४. अन्तभूतं- भो० ।
५. ०अभावभावम्- क ।
६-६. विस्मयरूपरूप्यविस्मयं- ख; विस्मयरूपमविस्मयं- भो० ।
७. स्थितिमिव नापि- क ।
८. गह्वरम्- क,ख ।

एवंविधं तत्त्वमवाप्य योगी
चराचरात्मा जगदेकबन्धुः ।
यः पर्यटेज्ज्ञानमयो नृसिंहः
कृत्स्नं जगत् सोऽव्ययकायलाभी ।। २२।।

स जिह्मकायोऽप्यविजिह्मकायः
सोऽनासनोऽप्यासनबन्धधीरः ।
समीलिताक्षोऽपि विबुद्धनेत्रः
समाहितः सन्न समाहितोऽसौ ।। २३।।

स वाग्युतो[१] वागसमन्वितोऽपि[२]
भोगान्वितः[३] सोऽपि विरूपवृत्तिः ।
स लोकनाथः परभृत्यभूतो[४]
यस्तत्त्ववित् क्षीणसमस्तदोषः ।। २४।।

प्राप्तोपदेशकः शिष्यो द्विधा योगमथाभ्यसेत् ।
पिण्डग्राहक्रमेणैव तथा चैवानुभेदतः ।। २५।।

शिरसः पादतो चापि[५] यावद्धृदयमागतः ।
भूतकोटिं विशेद् योगी पिण्डग्राह इति स्मृतः ।। २६।।

स्थावरं जङ्गमं चैव पूर्वं कृत्वा प्रभास्वरम् ।
पश्चात् कुर्यात् तथाऽऽत्मानम् अनुभेदक्रमो ह्ययम् ।। २७।।

श्वासवातो यथाऽऽदर्शे लयं गच्छति सर्वतः ।
भूतकोटिं तथा योगी प्रविशेच्च मुहुर्मुहुः ।। २८।।

---

१. वाग्यतो- क,ख ।
२. वाग् समन्वितोऽपि- क,ख ।
३. रूपान्वितः-भोटपाठे लक्ष्मीङ्कराप्रणीतायां वृत्तौ ।
४. प्रवृत्यभूतो- क ।
५. वापि- क ।

गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जन्नुन्मिषन् निमिषन् हसन् ।
अनेन ध्यानयोगेन सदा तिष्ठति तत्त्ववित् ॥ २९॥

सत्त्वार्थोऽपि कदाचित् स्यात् तत्तत्सारूप्यरश्मिना ।
वायुविज्ञानयुक्तेन स्वाधिष्ठानक्रमेण तु ॥ ३०॥

यथा नदीजलात् स्वच्छान्मीनमुत्तिष्ठते[1] द्रुतम्[1] ।
सर्वशून्यात् तथा स्वच्छान्मायाजालमुदीर्यते ॥ ३१॥

पञ्चबुद्धकुलायत्ता[2] महामुद्रादिकल्पना ।
पञ्चरश्मिसमुच्छ्रेया[3] गगने शक्रचापवत् ॥ ३२॥

मुद्राबन्धं प्रकुर्याद् वा मन्त्रं चापि जपेद् यदि ।
सर्वमन्यत् प्रकुर्याच्च सर्वशून्यपदे स्थित: ॥ ३३॥

सर्वभुक् सर्वपश्चैव[4] सर्ववन्दी च सर्वग: ।
सर्वकृत् सर्वलिङ्गी च सर्वशून्येन सिध्यति ॥ ३४॥

प्राप्तोपदेश: सुभग: सुशिष्यो
बौधौ हि चित्तं परमार्थनाम ।
गुरो: सकाशात् पुनराददीत
कृताञ्जलिर्धारितपुष्पहस्त: ॥ ३५॥

सर्वभावविगतं स्कन्धधात्वायतनग्राह्यग्राहकवर्जितं धर्मनैरात्म्यसमतया[5] स्वचित्तम् आद्यनुत्पन्नं शून्यतास्वभावमिति ।

१-१. उत्पत्तितो द्रुतम्-क; उत्पत्तिद्रुतम्- ख ।

२. ०कुलायन्ता- क,ख ।

३. समुच्छर् एया- क; समुच्छेया- ख ।

४. सर्वपश्यी च- भोटपाठे लक्ष्मीङ्कराप्रणीतायां वृतौ ।

५. धर्मनैरात्म०- ख ।

ततस्तु गुरवे दद्याद् दक्षिणां त्वनुरूपतः ।
रत्नं गृहं वा हस्त्यश्वं ग्रामं वा शयनासनम् ।। ३६।।

दासं दासीं प्रियां भार्यां पुत्रीं [1]चाप्यतिवर्णभाम्[1] ।
आत्मानं चापि यद्दद्यात् किमन्यदवशिष्यते ।। ३७।।

प्राप्ताचार्यप्रसादो विमलदृढमतिः सर्वभावस्वभावः
स्वच्छं शुद्धं सुसूक्ष्मं परमशिवमयं बुद्धनिर्वाणधातुम् ।
निर्द्वन्द्वं निर्विकल्पं सततसुखमयं भावयेत्[2] तत्त्वयोगी
पुण्यापुण्याद् विमुक्तः स्वयमिह भगवान् जायते वज्रसत्त्वः ।। ३८।।

।। परमरहस्यसुखाभिसम्बोधिक्रमश्चतुर्थः समाप्तः ।।

कृतिरियम् आचार्यनागार्जुनपादानाम् । ग्रन्थप्रमाणमस्य श्लोकाश्चत्वारिंशत् ।

•

१-१. पुत्रीष्वाप्यति- ख ।
२. गोपयेत्- ख ।

[५]

युगनद्धक्रमः[१] पञ्चमः[१]

नमः श्रीवज्रधराय[१]

फलहेत्वात्मकं[२] नाथं सर्वद्वन्द्वविवर्जितम् ।
प्रणम्य लिख्यते सम्यग्[३] युगनद्धक्रमोत्तमः[४] ॥ १ ॥

संसारो निर्वृतिश्चेति कल्पनाद्वयवर्जनात् ।
एकीभावो भवेद् यत्र युगनद्धं तदुच्यते ॥ २ ॥

सङ्क्लेशं[५] व्यवदानं च ज्ञात्वा तु[६] परमार्थतः ।
एकीभावं तु यो वेत्ति स वेत्ति युगनद्धकम् ॥ ३ ॥

साकारभावसङ्कल्पं निराकारत्वकल्पनाम्[७] ।
एकीकृत्य चेरद् योगी स वेत्ति युगनद्धकम् ॥ ४ ॥

ग्राह्यं च ग्राहकं चैव द्विधा बुद्धिर्न विद्यते ।
अभिन्नता भवेद् यत्र[८] तदाह युगनद्धकम् ॥ ५ ॥

शाश्वतोच्छेदबुद्धी तु यः प्रहाय प्रवर्तते ।
युगनद्धक्रमाख्यं वै तत्त्वं वेत्ति स पण्डितः ॥ ६ ॥

१-१. आधारपुस्तकेषु नास्ति ।
२. सर्वबुद्धात्मकं- भो० ।
३. नास्ति- भो० ।
४. ०क्रमोत्तरः- भो० ।
५. संक्लेशो-सुभाषितसंग्रहः ।
६. तत्-सुभाषितसंग्रहः ।
७. निराभास०- भो० ।
८. बुद्धौ- भो० ।

प्रज्ञाकरुणयोरैक्यं ज्ञात्वा यत्र प्रवर्तते[१] ।
युगनद्ध इति ख्यातः क्रमोऽयं बुद्धगोचरः ॥ ७ ॥

प्रज्ञोपायसमापत्त्या[२] ज्ञात्वा सर्वं समासतः ।
यत्र स्थितो महायोगी तद् भवेद् युगनद्धकम् ॥ ८ ॥

यत्र सोपधिशेषं[३] च तथाऽनुपधिशेषकम् ।
इत्येवं कल्पना नास्ति तत् तद्धि युगनद्धकम् ॥ ९ ॥

यत्र पुद्गलनैरात्म्यं धर्मनैरात्म्यमित्यपि ।
कल्पनाया विविक्तत्वं युगनद्धस्य लक्षणम् ॥ १० ॥

ज्ञात्वा[४] क्रमेण[४] तत्त्वज्ञः स्वाधिष्ठानप्रभास्वरम्[५] ।
तयोरेव समाजं यद् युगनद्धक्रमो ह्ययम् ॥ ११ ॥

पिण्डग्राहानुभेदाभ्यां प्रवेशस्तथतालये ।
उत्थानं च ततो यत्र समन्ताद् युगनद्धकम् ॥ १२ ॥

संवृतिं परमार्थं च पृथग् ज्ञात्वा विभागतः ।
सम्मीलनं भवेद् यत्र युगनद्धं तदुच्यते ॥ १३ ॥

तथतालम्बनं नैव[६] व्युत्थानं यत्र नैव[७] हि ।
युगनद्धं भवेत् तच्च योगिनां पदमव्ययम् ॥ १४ ॥

सुप्तः प्रबुद्ध इत्येतदवस्थाद्वयवर्जितम् ।
युगनद्धं वदेच्छास्ता[८] स्वापबोधविवर्जितम्[९] ॥ १५ ॥

---

१. परावर्तते- क ।
२. ०समापत्त्यो- ख
३. गोपविशेषं- ख ।
४-४. क्रमेण ज्ञात्वा-सुभाषितसंग्रहः ।
५. प्रभास्वरो- ख; प्रभास्वरौ-सुभाषितसंग्रहः ।
६. चैव- भो० (देगे-संस्करणम्) ।
७. चैव- भो० (देगे-संस्करणम्) ।
८. वदेच्छान्तं- क; वदेछा०- ख ।
९. स्वापबोधि०- क ।

समाधानासमाधानं यस्य नास्त्येव सर्वथा ।
युगनद्धे स्थितो योगी भावाभावविवर्जितः ॥ १६ ॥

अस्मृतिस्मृतिनिर्मुक्तः सततोदयलक्षणः[1] ।
विचरेदिच्छया योगी युगनद्धक्रमे स्थितः ॥ १७ ॥

रागारागविनिर्मुक्तः परमानन्दमूर्तिमान् ।
आसंसारं स्थितिं[2] कुर्याद् युगनद्धविभावकः ॥ १८ ॥

कार्यं च कारणं चैव कृत्वाऽभिन्नं[3] स्वभावतः ।
या स्थितिर्योगिनां[4] बुद्धा युगनद्धं वदन्ति तत् ॥ १९ ॥

उत्पत्तिक्रम एकोऽयम् उत्पन्नक्रम इत्यपि ।
एकत्वं तु द्वयोर्यत्र युगनद्धस्तदुच्यते ॥ २० ॥

देवता परिशुद्धेयम् अशुद्धेयं भवेदिति ।
इति या कल्पनाऽभिन्ना[5] यत्र तद् युगनद्धकम् ॥ २१ ॥

रूपीति चाप्यरूपीति कल्पनाद्वयवर्जनात् ।
यः शान्तिं[6] वेत्ति[6] योगीन्द्रः स प्राप्तो युगनद्धकम् ॥ २२ ॥

एवं वै यः स्थितो योगी युगनद्धक्रमे स्थितः ।
उच्यते स हि सर्वज्ञः तत्त्वदर्शी च विश्वधृक् ॥ २३ ॥

मायाजालाभिसम्बुद्धः संसारार्णवपारगः ।
कृतकृत्यो महायोगी सत्यद्वयनये[7] स्थितः ॥ २४ ॥

---

१. सततोद अपलक्षणः- क ।
२. स्थितं- क ।
३. कृत्वा भिन्नं- क; 'कृत्वा' नास्ति भो० ।
४. स्थिरयोगिनां- क ।
५. कल्पना भिन्ना- क ।
६-६. स्थातुष्ठेति- क,ख ।
७. सत्यद्वयलये- क ।

एतदेवाद्वयं ज्ञानम् अप्रतिष्ठितनिर्वृतिः ।
बुद्धत्वं[१] वज्रसत्त्वत्वं सर्वैश्वर्यं तथैव च ।। २५ ।।

वज्रोपमसमाधिस्तु निष्पन्नक्रम[२] एव[२] च ।
वज्रोपमसमाधिश्चाप्यद्वयं[३] तच्च कथ्यते ।। २६ ।।

अनुत्पादादयः शब्दा अद्वयज्ञानसूचकाः ।
अस्यैव[४] वाचकाः सर्वे नान्यत् तत्राभिधीयते[५] ।। २७ ।।

महामुद्रात्मिकां सिद्धिं सदसत्पक्षवर्जिताम् ।
अनेनैव गता बुद्धा गङ्गायाः सिकतोपमाः[६] ।। २८ ।।

घटमानो महायोगी युगनद्धपदे स्थितः ।
भावयेद् युगनद्धं तु चर्यां चापि तदन्वयाम्[७] ।। २९ ।।

यथात्मनि तथा शत्रौ यथा भार्या तथात्मजा[८] ।
यथा माता तथा वैश्या यथा डोम्बी तथा द्विजा ।। ३० ।।

यथा वस्त्रं तथा चर्म यथा[९] रत्नं तथा तुषम्[९] ।
यथा मूत्रं तथा मद्यं[१०] यथा भक्तं[११] तथा शकृत्[१२] ।। ३१ ।।

---

१. इतः घ-ङ-पुस्तके प्रारभ्येते ।
२-२. निष्पन्नक्रमस्थ- भो० ।
३. ०समाधिश्च अद्वयं- घ,ग ।
४. अनैव- घ,ग ।
५. तत्राविधीयते- क,घ,ग ।
६. शिकतोपमाः- ख ।
७. तदद्वयाम्- भो० ।
८. तथा वधूः- भो० (देगे-संस्करणम्); तथा पिता- भो० (लक्ष्मीङ्कराप्रणीतायां वृत्तौ) ।
९-९. यथा घृतं तथा विषम्- भो० (लक्ष्मीङ्कराप्रणीतातायां वृत्तौ) ।
१०. मेद्यं- क,ख ।
११. भक्ष्यं-घ; ओदनं-लक्ष्मीङ्कराप्रणीतायां वृत्तौ ।
१२. सकृत्- ख,ग,घ ।

यथा सुगन्धि[1] कर्पूरं तथा गन्धममेध्यजम् ।
यथा स्तुतिकरं वाक्यं तथा वाक्यं जुगुप्सितम्[2] ।। ३२ ।।

यथा रुद्रस्तथा वज्री यथा रात्रिस्तथा दिवा ।
यथा स्वप्नं तथा दृष्टं यथा नष्टं तथा स्थितम् ।। ३३ ।।

यथा सौख्यं तथा दुःखं यथा दुष्टस्तथा सुतः ।
यथाऽवीचिस्तथा स्वर्गस्तथा पुण्यं[3] तु पापकम्[3] ।। ३४ ।।

एवं ज्ञात्वा चरेद् ज्ञानी[4] निर्विशङ्कस्तु[5] सर्वकृत् ।
प्रच्छन्नव्रतमासाद्य सिध्यन्ते सर्वसम्पदः[6] ।। ३५ ।।

प्रकाश्य पुण्यं यत् प्राप्तं पञ्चक्रममनुत्तरम्[7] ।
अनेन क्रीडतां लोको[8] युगनद्धसमाधिना ।। इति[9] ।३६ ।।

।। युगनद्धक्रमः पञ्चमः[10] समाप्तः[11] ।।

कृतिरियम् आचार्यनागार्जुनपादानाम्[12] । [13]ग्रन्थप्रमाणमस्य श्लोकाः पञ्चत्रिंशत्[13] ।

।। पञ्चक्रमः समाप्तः ।।

---

१. सुगन्धं- ग,घ ।
२. जुगुप्सिताम्- ग ।
३-३. तु पुण्यपापयोः- ग,घ ।
४. योगी- क,ख ।
५. निर्विकल्पस्तु- भो० (दे-गे-संस्करणम्) ।
६. इतोऽनन्तरम् 'इति' इत्यधिकः पाठो ग-पुस्तके प्राप्यते ।
७. अनुत्तमम्- ग,घ; पञ्चमक्रमम्- भो० (दे-गे-संस्करणम्) ।
८. लोके- ग,घ ।
९. 'इति' नास्ति-ग,घ ।
१०. अतोऽनन्तरम्- 'ग्रन्थस्य प्रमाणं सतं ३ ग्रन्थ ७ समाप्तश्चायं पञ्चक्रमः'- इत्यधिकः पाठः- ग,घ ।
११. आधारपुस्तकेषु नास्ति ।
१२. अतोऽनन्तरम्-श्रेयोऽस्तु शाक्य-संवत् १९८६ साल माघकृष्णचतुर्दशी १५ गते मङ्गलवार एतद्दिने सम्पूर्णं कृतम् ।। शुभं भूयात् ।। - इत्यधिकः पाठः- घ ।
१३-१३. नास्ति- ग,घ ।

ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुस्तेषां तथागतो ह्यवदत् ।
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः ।।

शुभमस्तु

• • •

परिशिष्ट

जगद्-दुःखैकभैषज्यं सर्वसम्पत्सुखाकरम् ।
लाभसत्कारसहितं चिरं तिष्ठतु शासनम् ।।

(बोधिचर्यावतार, १०:५७)

परिशिष्टम्-१ [क]

पिण्डीक्रमस्य

अकारादिक्रमेण गाथापादानुक्रमणिका

•

परिशिष्टम्-१ [ख]

पञ्चक्रमस्य
अकारादिक्रमेण गाथापादानुक्रमणिका

•

संसारो निर्वृतिश्चेति कल्पनाद्वयवर्जनात् ।
एकीभावो भवेद् यत्र युगनद्धं तदुच्यते ।।

(पञ्चक्रमः, ५:२)

परिशिष्टम्-२

ग्रन्थोद्धृतग्रन्थनामानुक्रमणिका

शौषीर्यं नास्ति ते काये मांसास्थिरुधिरं न च ।
इन्द्रायुधमिवाकाशे कायं दर्शितवानसि ।।

(वज्रक्रमे स्वाधिष्ठानक्रमस्तृतीयः)

परिशिष्टम्-३

संकेतविवरणं सहायकग्रन्थाश्च

क - लुइस् डेला वेलीपूसें संस्करण १९९६

ख - पाण्डुलिपि, डॉ० ठाकुरसेन नेगी, व्यक्तिगतसंग्रह

ग - पाण्डुलिपि, शान्तरक्षित पुस्तकालय, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षासंस्थान, सारनाथ

घ - पाण्डुलिपि, गायकवाड ओरियन्टल इन्टीच्यूट, बड़ौदा से प्राप्त, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षासंस्थान, सारनाथ में संगृहीत (जिराक्स प्रति)

ङ - पाण्डुलिपि, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षासंस्थान, सारनाथ में संगृहीत (माइक्रोफिल्म प्रति)

भो० - भोटपाठ :

(१) पेकिङ्ग संस्करण

(२) दे-गे संस्करण

(३) छग् लोचावा का अनुवाद (पेकिङ्ग संस्करण)

(४) लक्ष्मीङ्करा की टीका तनग्युर संग्रह (दे-गे संस्करण:

(५) नागबोधि की टीका तनग्युर संग्रह (दे-गे संस्करण)

(६) रत्नाकर शान्ति विरचित रत्नावलि, पिण्डीक्रमसाधनवृत्ति, तनग्युर संग्रह (दे-गे संस्करण)

मू० त०-मूलतन्त्रम् (गुह्यसमाजतन्त्रम्)

अद्वयवज्रसंग्रह: गायकवाड ओरियन्टलसीरीज़ १९२७ अभिसन्धि प्रकाशिका, प्रदीपोद्योतनटीका, भव्यकीर्तिकृता

उत्तराभिधानतन्त्रम्
उपदेशमञ्जरी
कर्मान्तविभंगः, नागबोधिकृतः
कुसुमाञ्जलिनिबन्धः, गुह्यसमाजटीका, रत्नाकरशान्तिकृतः
गुरुपञ्चाशिका
गुह्यमाजतन्त्रम्
गुह्यसमाजमण्डलविधिविंशतिः, नागबोधिकृता
गुह्यसिद्धिः, पद्मवज्रपादकृता
चक्रसंवरतन्त्रम्
चतुर्मुद्राक्रमः, नागार्जुनकृतः
चर्यामेलापकप्रदीपः, आर्यदेवकृतः
चर्यासमुच्चयप्रदीपः, आर्यदेवकृतः
ज्ञानतिलकतन्त्रम्
ज्ञानवज्रसमुच्चयः
तर्कज्वाला, मध्यमहृदयटीका, भावविवेककृता
तत्त्वरत्नावलिः
तत्त्वसंग्रहतन्त्रम्
देवेन्द्रपरिपृच्छातन्त्रम्
ध्यानोत्तरतन्त्रम्
नयत्रयप्रदीपः कम्बलपादकृतः
पञ्चक्रमटिप्पणी, परहितरक्षितपादकृता
प्रदीपोद्योतनम्, गुह्यसमाजटीका, चन्द्रकीर्तिकृतम्
बोधिचित्तविवरणम्, नागार्जुनपादकृतम्
मञ्जुश्रीमुखागमः, बुद्धज्ञानपादकृतः
महायानसूत्रालङ्कारः, मैत्रेयनाथकृतः
मुक्तितिलकतन्त्रम्

वज्रगर्भालङ्कारतन्त्रम्
वज्रपञ्जरतन्त्रम्
वज्रमालाभाष्यतन्त्रम्
वज्रशेखरतन्त्रम्
वज्रहृदयालङ्कारतन्त्रम्
विमलप्रभा, कालचक्रतन्त्रटीका
वैरोचनाभिसंबोधितन्त्रम्
व्यवस्थावलिः, नागबोधिविरचिता
सन्धिव्याकरणतन्त्रम्
समाजसाधनव्यवस्थाक्रमः, नागबोधिकृतः
सम्पुटतन्त्रम्
सुबाहुपरिपृच्छातन्त्रम्
सुसिद्धिकरमहातन्त्रम्
सूत्रमेलापकसाधना, नागार्जुनपादकृता
सेकोद्देशटीका
स्वाधिष्ठानक्रमभेदः आर्यदेवकृतः
हूँ-कारसाधना, आर्यनागार्जुनपादकृता
हेवज्रतन्त्रम्

•